॥ श्रीहरिः ॥ 418▲

साधकोंके प्रति

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

साधकोंके प्रति

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

हमारे परमश्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज अत्यन्त सरल एवं सुबोध भाषा–शैलीमें प्रवचन दिया करते हैं। 'साधकोंके प्रति' नामसे 'कल्याण' मासिक पत्रिकामें आपके प्रवचन प्रकाशित होते हैं। प्रवचनोंकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रवचनोंकी उपादेयताके कारण यह महत्त्वपूर्ण प्रवचन–संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इसे मननपूर्वक पढ़नेसे जीवनमें व्यावहारिक एवं पारमार्थिक अभूतपूर्व सहायता ही नहीं, सफलता भी प्राप्त हो सकेगी। अतः सर्वसाधारणसे निवेदन है कि प्रस्तुत विषयको भलीभाँति हृदयंगम करनेकी कृपा कर लाभ उठावें।

विनीत—

प्रकाशक

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

॥ श्रीहरिः ॥

प्रवचन—१

साधकोंके प्रति—

साधकके लिये खास बात है—**पराधीनतासे रहित होना**। शरीर, रुपये, व्यक्ति, देश, काल आदिकी आवश्यकताका अनुभव करना ही पराधीनता है। जिसके पास अधिक रुपये, विद्या, बुद्धि, बल आदि हैं, वह संसारकी अधिक सेवा कर सकता है—यह वहम हृदयसे बिलकुल उठा देना चाहिये। साधकके पास जितने रुपये, विद्या, शक्ति आदि हैं, उतनेसे ही वह संसारकी बड़ी-से-बड़ी सेवा कर सकता है। जो अपने पास नहीं है, उसे देनेकी जिम्मेवारी नहीं है। परमात्माकी प्राप्ति वस्तुसे नहीं, त्यागसे होती है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंकी आवश्यकताका अनुभव करना और उनके आश्रयसे अपनी उन्नति मानना महान् भूल है। साधकको कभी स्वप्नमें भी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय नहीं लेना चाहिये। पासमें जो धन, जमीन, मकान, परिवार आदि हैं, उनके रहते हुए ही अन्तःकरणसे उनकी आवश्यकताका मूलोच्छेदन कर देना चाहिये। ऐसा करनेसे साधककी उन्नति स्वतःसिद्ध है।

उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका आश्रय लेना, उनकी अधीनता स्वीकार करना योगमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग—तीनों ही मार्गोंमें महान् बाधक है। जीव स्वयं नित्य परिपूर्ण निर्विकार परमात्माका चेतन अंश होते हुए भी यदि उत्पत्ति-विनाशशील जड वस्तुओंकी आवश्यकताका अनुभव करता है तो वह परमात्माको जान ही कैसे सकता है? अतः धनादि जड वस्तुएँ हमारी हैं और हमारे लिये आवश्यक हैं—यह भाव साधकको मनसे ही उठा लेना चाहिये।

मनुष्यके भीतर यह भाव रहता है कि जो वस्तु, परिस्थिति, योग्यता

आदि अभी नहीं है, वह मिल जाय तो मेरी उन्नति हो जायगी। वह उत्पत्ति-विनाशशील जड वस्तुओंकी प्राप्तिमें ही अपनी उन्नति मानता है। जैसे, उसके पास धन नहीं है, तो धन कमाकर लखपति-करोड़पति बननेपर वह सोचता है कि मैंने बड़ी भारी उन्नति कर ली है, वह पढ़ा-लिखा नहीं है तो पढ़-लिखकर विद्वान् बन जानेपर सोचता है कि मैंने बड़ी भारी उन्नति कर ली, इत्यादि। वास्तवमें यह उन्नति नहीं है, अपितु महान् अवनति (पतन) है। जो वस्तु पहले नहीं थी, वह बादमें भी नहीं रहेगी। स्वयं नित्य-निरन्तर रहनेवाला होनेपर भी अनित्य वस्तुओंकी प्राप्तिमें अपनी उन्नति मानना अपने साथ महान् धोखा करना है। जो सदासे है और सदा रहेगा, उस अविनाशी परमात्माको प्राप्त करनेमें ही मनुष्यकी वास्तविक उन्नति है। जो वस्तु अभी नहीं है, उसे प्राप्त कर भी लेंगे तो वह कबतक हमारे साथ रहेगी। जो अभी नहीं है, वह अन्तमें भी 'नहीं' में ही परिणत होगी। **ऐसी उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंको प्राप्त करके अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करना ही उनके अधीन (पराधीन) होना है।**

दूसरी खास बात यह है कि अपनेमें सद्गुण-सदाचारोंकी कमी दीखनेपर भी साधक ऐसा कभी न माने कि मुझमें सद्गुण-सदाचारोंका अभाव है। सद्गुण-सदाचार 'सत्' हैं और दुर्गुण-दुराचार 'असत्' हैं। 'असत्' की तो सत्ता नहीं होती और 'सत्' का कभी अभाव नहीं होता— **'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'** (गीता २।१६)। उत्पत्ति-विनाशशील असत्का संग करनेके कारण ही सत् प्रकट नहीं होता। अस्वाभाविक असत् (दुर्गुण-दुराचार)-का त्याग कर दें, तो सत् (सद्गुण-सदाचार) स्वतःसिद्ध हैं। सत्से विमुख हुए हैं, उसका अभाव नहीं हुआ है। असत् (दुर्गुण-दुराचारों)-का त्याग करनेका उपाय यह है कि साधक इन्हें अपनेमें कभी न माने। वास्तवमें ये हमारेमें हैं ही नहीं, रह सकते ही नहीं। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और प्राण भी पहले हमारे साथ नहीं थे और न ही आगे हमारे साथ रहेंगे। कारण कि ये

सब उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुएँ हैं और हम स्वयं अविनाशी परमात्माके अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। **जड वस्तुएँ बदलती और आती-जाती हैं जबकि स्वयं (आत्मा) कभी नहीं बदलता और सदैव ज्यों-का-त्यों रहता है। केवल प्रकृतिके अंशको पकड़नेसे यह सर्वथा स्वाधीन होते हुए भी पराधीन हो जाता है और जन्म-मरणके बन्धनसे बँध जाता है।** गीतामें आया है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

(गीता १३। २१)

'प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही प्रकृतिजन्य त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

तीसरी खास बात यह है कि **आध्यात्मिक उन्नतिमें सांसारिक वस्तु, योग्यता आदिकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।** धन, सम्पत्ति, वैभव, पद, अधिकार, विद्या आदिकी अधिकता होनेसे आध्यात्मिक उन्नति अधिक होगी और इनकी कमी होनेसे आध्यात्मिक उन्नति कम होगी—ऐसी बात बिलकुल नहीं है; क्योंकि सांसारिक वस्तु चाहे अधिक हो या कम, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करना है अर्थात् उसकी कामना और ममताका त्याग करना है। चाहे लाखों-करोड़ों रुपये हों, चाहे पाँच रुपये हों और चाहे कुछ भी न हो, भीतरसे उनकी कामनाका ही त्याग करना है। त्याग करनेमें सभी समान हैं। अमुक व्यक्तिने बहुत त्याग किया और अमुक व्यक्तिने थोड़ा त्याग किया तो इससे त्यागमें क्या फर्क पड़ा? त्याग तो दोनोंका समान ही है। अधिकका त्याग करनेकी अपेक्षा कमका त्याग करनेमें सुगमता भी होगी। बोलने-बोलनेमें फर्क है? पर न बोलनेमें क्या फर्क? सोचने-सोचनेमें फर्क है पर न सोचनेमें क्या फर्क? देखने-देखनेमें फर्क है,

पर न देखनेमें क्या फर्क? दो आदमी काम करें तो करनेमें फर्क होगा, पर न करनेमें क्या फर्क? तात्पर्य यह कि सांसारिक वस्तुओंके रहते हुए तो फर्क है पर उनका त्याग करनेमें कोई फर्क नहीं। किसीके पास धन, जमीन, मकान आदि अधिक हैं और किसीके पास ये कम हैं, पर इनसे रहित होनेमें सब बराबर हैं। जीनेमें कई फर्क हैं पर मरनेमें कोई फर्क नहीं, चाहे मनुष्य मरे या पशु-पक्षी। अतएव **हमारे पास धन-सम्पत्ति कम है, विद्या कम है, योग्यता कम है, इसलिये हम पारमार्थिक उन्नति नहीं कर सकते—यह धारणा बिलकुल गलत है।**

जडतासे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर ही चिन्मयताकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें चिन्मयता (परमात्मतत्त्व)-की प्राप्ति सभीको स्वत:सिद्ध है पर जडता (उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं)-को महत्त्व देनेसे हम चिन्मयतासे विमुख हुए हैं। अत: जडतासे विमुख होकर परमात्माके सम्मुख होना है। हृदयमें धनादि उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओंका महत्त्व अंकित होनेके कारण ही ऐसा भाव होता है कि हमारे पास बहुत धन है, इसलिये हम बड़े आदमी हैं अथवा हमारे पास कुछ नहीं है, इसलिये हम छोटे हैं। वास्तवमें चाहे धनवान् हो या निर्धन, मनसे धनकी इच्छाका त्याग करनेपर दोनों समान हैं। अतएव जैसी भी परिस्थिति, योग्यता आदि हमें मिली हुई है, उसीमें साधक परमात्मतत्त्वका अनुभव कर सकता है।

मनुष्य-शरीर मिलनेके बाद मनुष्य सांसारिक पदार्थोंसे निराश हो सकता है, क्योंकि संसारकी कोई भी वस्तु किसीको बराबर मात्रामें और पूर्णरूपसे नहीं मिलती। परंतु **सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मतत्त्व सभीको समानरूपसे और पूरे-के-पूरे मिलते हैं। इसलिये परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें निराश होनेका कोई स्थान नहीं है।** मनुष्य-शरीर मिल गया तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका अधिकार भी मिल गया।

प्रवचन—२

दोषोंको मिटानेका अचूक उपाय है—**दोषोंको अपनेमें न माने, और दोषजनित गलतीको दुबारा न करे।** बारंबार गलती करनेसे ही दोष बने रहते हैं। गुण और दोष दोनों ही उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं और हम स्वयं निरन्तर रहनेवाले हैं। ऐसे ही संसार उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है एवं परमात्मा निरन्तर रहनेवाले हैं। अतएव हम स्वयं और परमात्मा तो एक हैं और दोष तथा संसार एक। तात्पर्य यह कि हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है संसार और दोषोंके साथ नहीं। परन्तु हमने परमात्मासे विमुख होकर संसारसे अपना सम्बन्ध मान लिया, यही गलती हुई। संसार और शरीरसे सम्बन्ध हमने ही माना है, संसार और शरीरने हमसे सम्बन्ध नहीं माना है। हम ही परमात्मासे विमुख हुए हैं, परमात्मा हमसे विमुख नहीं हुए हैं। अतएव संसार और शरीर मेरे नहीं हैं तथा मैं उनका नहीं हूँ, अपितु परमात्मा मेरे हैं और मैं परमात्माका हूँ—ऐसा आज ही मान लें। शरीर संसारका अंश है और हम परमात्माके अंश हैं। **शरीरको संसारकी सेवामें अर्पण कर दे और स्वयंको परमात्माके अर्पण कर दे**—इतना ही काम साधकको करना है।

संसारको अपना मानते ही मनुष्य फँस जाता है और तरह-तरहके दुःख भोगता है। वह समझता तो यह है कि शरीर, धन, जमीन, मकान, परिवार आदि मेरे हैं और मैं उनका मालिक हूँ पर वास्तवमें वह उनका गुलाम हो जाता है। **वहम तो मालिक बननेका होता है पर बनता है गुलाम**—यह बिलकुल सच्ची बात है। मनुष्यको चाहिये कि उन वस्तुओंकी सेवा कर दे और उनसे कोई आशा न रखे, उनमें ममता न करे। शरीरकी भी सेवा कर दे। उसे अन्न, जल आदि दे दे पर उसे अपना न माने। शरीरको सदा रख नहीं सकते, उसे इच्छानुसार बना नहीं सकते, उसमें चाहे जैसा परिवर्तन नहीं कर सकते, फिर वह अपना कैसे? रुपये, जमीन, मकान आदिको भी इच्छानुसार नहीं रख सकते। अतः 'वे अपने

हैं'—यह सरासर झूठी बात है। वे सेवाके लिये हमें मिले हैं, अत: उनकी नि:स्वार्थभावसे सेवा कर दें। वे अपने दीखते हैं तो यह भगवान्‌की उदारता है। भगवान् किसीको कोई वस्तु देते हैं तो इस ढंगसे देते हैं कि वह उसे अपनी ही प्रतीत होती है। यह देनेवालेकी विलक्षण उदारता है कि सब कुछ देकर भी उसने अपने-आपको छिपा रखा है। मिली हुई वस्तुको अपनी मानना भगवान्‌की उदारताका दुरुपयोग है। अत: जो अपना नहीं है, उसे अपना नहीं मानना है और जो वास्तवमें अपना है, उस (परमात्मा)-के सम्मुख होना है।

शरीरादि पदार्थ प्रतिक्षण ही नाशकी ओर जा रहे हैं। आजतक ये पदार्थ किसीके पास सदा नहीं रहे तो अब कैसे रहेंगे? इन आने-जानेवाले पदार्थोंको अपनी ओरसे छुट्टी दे दें। ये आ जायँ तो मौज, चले जायँ तो मौज। इसीका नाम त्याग है। त्यागसे तत्काल शान्ति प्राप्त होती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२। १२)। त्यागका अर्थ यह नहीं है कि धन, जमीन, परिवार आदिको छोड़कर भाग जायँ। इन्हें छोड़कर जहाँ भी जायँ, शरीर तो साथ ही रहेगा। शरीर भी तो उन्हीं (धन, जमीन आदि)-का साथी है। एक शरीरसे सम्बन्ध है तो संसारमात्रसे सम्बन्ध है। शरीर संसारका बीज है। एक बीजसे जंगल पैदा हो सकता है। इसलिये **इन पदार्थोंको स्वरूपसे नहीं छोड़ना है, अपितु इन्हें अपना और अपने लिये नहीं मानना है।** इन्हें अपना न माननेपर सब चिन्ता-क्लेश मिट जाते हैं। कन्या बड़ी होनेपर उसकी बहुत चिन्ता रहती है। पर उसका अच्छे घरमें विवाह हो जाय तो चिन्ता मिट जाती है। कन्या भी वही और हम भी वही पर विवाहके बाद वह कन्या हमारे घरमें बैठी है तो भी उसकी चिन्ता नहीं होती; क्योंकि अब वह अपनी नहीं है—ऐसा मान लिया। इसी प्रकार यह शरीर भी कन्या है। इसका पालन-पोषण तो करना है पर इसे अपना नहीं मानना है। इस शरीररूपी कन्याको भगवान्‌के हाथ सौंपकर निश्चिन्त हो जायँ।

शरीरादि सांसारिक पदार्थोंको आजतक कोई नहीं रख सका। कई

बड़े-बड़े तपस्वी हुए और उन्होंने उनके बड़े-बड़े वरदान प्राप्त किये पर शरीरादिको कोई रख नहीं सका। इन्हें कोई रख सकता ही नहीं। फिर इन्हें अपने पास रखनेका झूठा प्रयास करनेसे क्या लाभ? शरीर, धन, जमीन, मकान, परिवार आदिको अपने पास बनाये रखनेका प्रयास करना अँधेरा ढोनेके समान ही है। अँधेरेको ढोकर, उसे उठाकर क्या बाहर फेंका जा सकता है? और यदि कोई दीपक लेकर अँधेरेको देखना चाहे तो क्या देख सकता है? इसी प्रकार संसारको देखने (जानने)-का प्रयास करें, तो मिलेगा कुछ नहीं; क्योंकि असत् संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। केवल सत् परमात्मतत्त्वकी सत्तासे ही वह सत्तावान् दीख रहा है।

साधक गुण और दोष दोनोंसे अपना सम्बन्ध न माने तो गुणोंका अभिमान नहीं रहेगा और दोष रहेंगे ही नहीं। स्वयंकी स्थिति गुण-दोषसे रहित है। इसीलिये कहा गया है—

सुनहुँ तात माया कृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

(मानस ७।४१)

‘**गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः॥** (श्रीमद्भा० ११।१९।४५)

‘गुणों और दोषोंपर दृष्टि जाना अर्थात् उनसे अपना सम्बन्ध मानना ही सबसे बड़ा दोष है और उनपर दृष्टि न जाकर अपने निर्विकार स्वरूपमें स्थित रहना ही सबसे बड़ा गुण है।’

अपनेमें गुणोंको देखनेसे उनके साथ अभिमान आदि दोष आयेंगे ही। कारण कि गुणोंकी महिमा दोषोंके कारण ही होती है। जैसे धनवानोंकी महिमा निर्धनोंके कारण ही है, धनवानोंके कारण नहीं; विद्वानोंकी महिमा मूर्खोंके कारण ही है, विद्वानोंके कारण नहीं; वक्ताकी महिमा श्रोताओंके कारण ही है, वक्ताओंके कारण नहीं। छोटी वस्तु रहनेके कारण ही बड़ी वस्तुकी महिमा होती है। यदि छोटी वस्तु न रहे तो बड़ी वस्तु कैसे देखनेमें आयेगी?

संसारके भोग जहरके लड्डूके समान हैं। मनुष्य लड्डूको नहीं छोड़ता

तो जहर मनुष्यको नहीं छोड़ता। जहरसे बचनेके लिये लड्डूका त्याग करना ही पड़ेगा। लड्डू भी खा लें और जहर भी न चढ़े, ऐसा होगा नहीं। यदि यह पता लग जाय कि लड्डूमें जहर है तो मीठा लगनेपर भी उसे कोई खायेगा नहीं। यदि उसे कोई खाता है तो इससे यही सिद्ध होता है कि लड्डूमें जहर केवल सुना हुआ है, माना हुआ नहीं है। कहा भी है—

करनी बिन कथनी कथे, अग्यानी दिन रात।
कूकर ज्यों भूँकत फिरै, सुनी सुनायी बात॥

प्रवचन—३

मनुष्य काम करनेके लिये किसी कार्यालय-(आफिस-)में जाता है तो वह बड़ी तत्परता और उत्साहसे उस कार्यालयका ही काम करता है और उस कामके लिये उसे वेतन मिलता है। काम कार्यालयके लिये होता है और वेतन अपने लिये। इसी प्रकार संसारमें आकर मनुष्यको केवल संसारके लिये ही काम करना है, अपने लिये नहीं। सबका हित कैसे हो? सबका भला कैसे हो? सबको सुख कैसे मिले? सबको आराम कैसे मिले? इस भावसे केवल संसारके लिये ही काम करना है। जैसे कार्यालयमें रखी हुई वस्तु कार्यालयके कामके लिये ही होती है, अपने लिये नहीं, वैसे ही संसारकी सब वस्तुएँ संसारके लिये ही हैं, अपने लिये नहीं। शरीर, धन, जमीन, मकान, आदि सब वस्तुएँ संसारसे ही मिली हैं और अन्तमें इन्हें संसारको ही लौटाकर जाना है। अतः संसारसे मिली हुई वस्तुओंको संसारकी ही मानकर उसीकी सेवामें लगा देना है। वे वस्तुएँ न तो अपनी हैं और न अपने लिये ही हैं। इसलिये अपने लिये कुछ करना ही नहीं है। **अपने लिये कुछ न करनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और परमात्माके साथ अपने नित्य-सम्बन्धका अनुभव हो जाता है।** इसीका नाम 'योग' है। कर्म संसारके लिये होता है और योग अपने लिये। यह योग ही मानो वेतन है।

अपने लिये कुछ करना है ही नहीं और अपने लिये कोई वस्तु **है** ही नहीं—ऐसा अनुभव होते ही संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता **है।** यही कर्मयोग है। इसके विषयमें भगवान्‌ने कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ (गीता २।४०)

'इस कर्मयोगमें उपक्रम अर्थात् आरम्भमात्रका भी नाश नहीं होता और इसका उलटा फल भी नहीं होता। इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।'

कार्यालयके समान इस संसारमें आकर अपनी ड्यूटी पूरी कर देनी है, अपने कर्तव्यका निष्कामभावपूर्वक सांगोपांगरीतिसे पालन कर देना है। कर्मयोगका स्वरूप यह है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २।४७)

'तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कदापि नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत बन तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।'

कामना—आसक्तिसे रहित होकर कर्म करनेपर संसारके सम्बन्धका त्याग हो जाता है और त्यागसे तत्काल शान्ति होती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२।१२)। **जितनी भी अशान्ति है, वह सब नश्वर संसारके सम्बन्धसे ही है।** नाशवान् वस्तुओंसे जितना अधिक सम्बन्ध अर्थात् अपनापन जोड़ेंगे, उतनी ही अधिक अशान्ति होगी। संसारसे सम्बन्ध न जोड़ें तो अशान्ति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार शान्ति तो स्वतःसिद्ध है और अशान्ति बनावटी अर्थात् खुद अपनी बनायी हुई है।

संसारकी किसी भी वस्तुसे मनुष्यका सम्बन्ध नहीं है। समय समाप्त होते ही चट यहाँसे चल देना है। एक दिन सब वस्तुओंको ज्यों-का-त्यों छोड़कर जाना पड़ेगा। सब-की-सब वस्तुएँ यहीं पड़ी

रह जायँगी। यह शरीर भी यहीं रह जायगा। इसलिये जबतक संसारमें रहना है, तबतक निष्कामभावसे दूसरोंकी सेवा करनी है। जब जायँगे, तब साथ कुछ ले नहीं जायँगे। बिलकुल कार्यालयके समान संसारमें काम (सेवा) करनेके लिये आये हैं।

शंका—ऊपर कही बातें तो बिलकुल ठीक हैं पर ये बातें सदा याद नहीं रहतीं।

समाधान—ये बातें याद करनेकी हैं ही नहीं। याद करनेकी बात तो भगवान्‌का नाम है, उनका स्वरूप है, उनकी लीला इत्यादि है। उपर्युक्त बातें तो बिलकुल समझनेकी हैं। जैसे, अभी हम अयोध्यामें हैं तो 'हम अयोध्यामें हैं; हम अयोध्यामें हैं'—ऐसा जप नहीं करना पड़ता; क्योंकि यह याद करनेकी बात ही नहीं है। ऐसे ही किसी व्यक्तिकी एक कार्यालयमें नियुक्ति हो जाय और वहाँ वह काम करना आरम्भ कर दे तो उसे 'यह कार्यालय मेरा नहीं है'—ऐसा याद नहीं करना पड़ता; कारण कि इसमें किंचित् भी याद करनेकी बात नहीं है। यह तो केवल स्वीकृति या अस्वीकृतिकी बात है। 'हम अयोध्यामें हैं'—इसे स्वीकार कर लिया। 'कार्यालय मेरा है'—इसे स्वीकार नहीं किया। बस, इतनी ही बात है। 'कार्यालय मेरा नहीं है, वहाँकी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं'—यह बात आरम्भसे जँच गयी, भीतर बैठ गयी। ऐसे ही संसारकी कोई भी वस्तु मेरी और मेरे लिये नहीं है—इस वास्तविक बातको दृढ़तासे भीतर बैठा लें।

प्रवचन—४

साधनमें खास बात है—अपने लक्ष्यका निर्णय करना कि वास्तवमें मैं क्या चाहता हूँ। साधक जप, ध्यान, भजन, कीर्तन आदि कुछ भी करता रहे, पर **जबतक वह अपने लक्ष्यका निर्णय नहीं कर लेता, तबतक उसकी वास्तविक साधना आरम्भ नहीं होती।** लक्ष्यका

निर्णय हो जानेपर साधक लक्ष्यको प्राप्त किये बिना, लक्ष्यके सिवाय दूसरी जगह ठहर ही नहीं सकता। लक्ष्यका निर्णय जितना दृढ़ होगा, उतनी ही शीघ्रतासे उसकी प्राप्ति होगी। उसके निर्णयमें जितनी ढिलाई होगी, उसकी प्राप्ति भी उतनी ही देरीसे होगी। इसलिये साधकको सबसे पहले गम्भीरतापूर्वक यह विचार करना है कि भगवान्‌ने मुझे मनुष्य क्यों और किसलिये बनाया? गहरा विचार करनेपर पता लगेगा कि किसी बहुत बड़े प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ही यह मनुष्य-शरीर मिला है। सांसारिक पदार्थोंके भोग और संग्रहके लिये मनुष्य-शरीर नहीं मिला है। सुखभोग तो पशु-पक्षी आदि मानवेतर योनियोंमें भी मिल सकता है। मनुष्य-शरीर तो उस सर्वोपरि तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये मिला है। इसे प्राप्त करनेपर कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। इस विषयमें गीताका बहुत सुन्दर श्लोक है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (६। २२)

'जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित होनेपर बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता।'

—ऐसी स्थितिको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका खास उद्देश्य है। इस स्थितिको प्राप्त किये बिना जो सन्तोष करता है, वह गलती करता है। जबतक कुछ भी करने, जानने और पानेकी इच्छा रहती है, तबतक साधकको यही समझना चाहिये कि वास्तवमें मैं जो चाहता हूँ, वह (वास्तविक तत्त्व) प्राप्त नहीं हुआ।

जैसे बदरीनारायण जाते समय मनुष्य रास्तेमें किसी जगह ठहरता है तो वहाँ भोजन कर लेता है, सो लेता है और अन्य आवश्यक काम कर लेता है, पर वहाँ अपना डेरा नहीं लगा लेता। जगह अच्छी है, जलवायु भी अच्छी है, सुविधा भी है—ऐसा विचार करके वह वहाँ रह नहीं जाता। यदि रह जाता है, तो वास्तवमें उसे बदरीनारायण जाना ही नहीं है। इसी

प्रकार संसारकी जितनी भी अवस्थाएँ हैं, वे सब रास्तेकी हैं। साधक उनमेंसे कहीं भी ठहर नहीं सकता, अटक नहीं सकता। उसे तो अपने एकमात्र लक्ष्य परमात्माकी ओर जाना है। **जहाँ कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता, साधकको तो वहाँ पहुँचना है।**

सच्चा साधक लक्ष्यको प्राप्त किये बिना चैन-आरामसे नहीं बैठ सकता। संसारमें धन मिल गया, तो क्या हो गया? मान-बड़ाई मिल गयी, तो क्या हो गया? सुख-आराम मिल गया, तो क्या हो गया? कारण कि ये सांसारिक धन, मान, बड़ाई, सुख-आराम आदि सबसे बढ़कर नहीं हैं। सबसे बढ़कर जो वस्तु है, वह नहीं मिली, तो क्या मिला? अर्थात् कुछ नहीं मिला। आरामसे खा लिया, पी लिया, सो लिया—यह सब पशुओंके ही योग्य है, विवेकी मनुष्यके योग्य नहीं। मनुष्य-शरीरकी महिमा इसी बातको लेकर है कि यह सबसे अधिक उन्नत हो सकता है। मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ है। देवताओंके पास भोगोंकी भरमार है पर वे भी मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति चाहते हैं।

सांसारिक भोग मनुष्यको सुखी नहीं कर सकते। मुख्य कारण यह है कि मनुष्य स्वयं तो नित्य-निरन्तर रहनेवाला है, पर भोग नित्य-निरन्तर रहनेवाले नहीं हैं। ऐसे भोगोंको हम कबतक अपने साथ रखेंगे? भोग कबतक टिके रहेंगे? उनसे कितना सुख-सन्तोष मिलेगा? इस ओर ध्यान न रहनेसे मनुष्य बेपरवाह रहता है। चाहे जितना धन कमा लें, धनकी इच्छा शेष रहेगी ही। लाखों-करोड़ों रुपये मिल जायँ, फिर भी तृप्ति नहीं होगी। ज्यों-ज्यों अधिक रुपये मिलेंगे, त्यों-ही-त्यों तृष्णा अधिक बढ़ेगी। तृष्णा अधिक बढ़नेपर झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, ठगी, विश्वासघात आदि अनेक दोष आते जायँगे, जिससे और अधिक पतन होगा। बिलकुल सही बात है। नाशवान् पदार्थोंको सदा अपने साथ रख नहीं सकते और सदा उनके साथ रह नहीं सकते। एक दिन सबको छोड़ना ही पड़ेगा। अतः बिगड़ने और बिछुड़नेवाली वस्तुओंको लेकर कौन-सा बड़ा काम किया। निर्वाहमात्रका प्रबन्ध तो भगवान्‌की ओरसे जीवमात्रके

लिये ही है; अतः इसके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। आवश्यकता वास्तविक तत्त्वको प्राप्त करनेकी ही है। उसकी प्राप्तिमें सांसारिक भोग और संग्रहकी कामना ही महान् बाधक है। **वास्तविक तत्त्वको प्राप्त किये बिना चैनसे रहना बड़े ही दुःखकी बात है।** मनुष्य कभी धन चाहता है, कभी मान-बड़ाई चाहता है, कभी निरोगता चाहता है, कभी आराम चाहता है पर वास्तवमें यह उसकी चाह नहीं है। अतः वास्तवमें मुझे क्या चाहिये—इसका निर्णय करनेकी बहुत अधिक आवश्यकता है। लक्ष्यका निर्णय होनेपर फिर उसकी विस्मृति (भूल) नहीं होती। जिसकी विस्मृति होती है, वह लक्ष्य नहीं है।

जैसा कि पहले बताया गया, लक्ष्य वह है, जिसकी प्राप्तिके बाद कुछ भी करना, जानना और पाना शेष न रहे। इसीको तत्त्वप्राप्ति, भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन, जीवन्मुक्ति, कैवल्य आदि-आदि कहते हैं। साधक तत्त्वज्ञान, भगवत्प्रेम, भगवद्दर्शन आदि जो चाहता है, वही उसे मिल जाता है।

प्रवचन—५

उत्पन्न होनेवाली प्रत्येक वस्तुके मूलमें उसका कोई कारण होता है। इस दृष्टिसे सम्पूर्ण सृष्टिका कोई एक मूल कारण है। परम्परासे विचार करें तो **उत्पत्तिमात्रका कारण कोई एक अनुत्पन्न तत्त्व है।** सम्पूर्ण संसारका जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान किसी प्रकाशमें होता है। जैसे नेत्रोंसे जो कुछ भी दीखता है, वह प्रकाशमें ही दीखता है, ऐसे ही सम्पूर्ण सृष्टिका कोई प्रकाशक है, जिसके प्रकाशमें सृष्टिका ज्ञान होता है। तात्पर्य यह कि जिससे संसार उत्पन्न होता है और जिसके प्रकाशसे संसार प्रकाशित होता है, वह एक अनुत्पन्न और सर्वप्रकाशक तत्त्व (परमात्मा) है। उस तत्त्वका अनुभव करना ही साधकका एकमात्र उद्देश्य है।

उत्पन्न होनेवाले और प्रकाशित होनेवाले जड पदार्थोंमें ममता-

आसक्ति करनेसे, उनका आश्रय लेनेसे ही मनुष्य दुःख पाता है। यदि मनुष्य उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंमें ममता-आसक्ति न करे, उनका आश्रय न ले तो अनुत्पन्न परमात्मतत्त्वमें उसकी स्वतः-स्थिति हो जायगी।

वास्तवमें अनुत्पन्न तत्त्वमें मनुष्यमात्रकी स्वतःसिद्ध स्थिति है। कार्यमात्र कारणमें रहता है। कार्यके बिना कारण रह सकता है पर कारणके बिना कार्य नहीं रह सकता। अतएव परमात्मतत्त्व संसारके होनेपर भी रहता है और न होनेपर भी रहता है; क्योंकि उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। परंतु उत्पन्न और नष्ट होनेवाला संसार परमात्मतत्त्वकी सत्तापर ही टिका हुआ है अर्थात् उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। इस संसारसे यदि हम अपना कोई सम्बन्ध न मानें, इसमें तादात्म्य-ममता-कामना न करें तो हमें परमात्मतत्त्वमें अपनी स्वाभाविक स्थितिका अनुभव हो जायगा। अनुभव होनेपर फिर दुःख, चिन्ता, भय, शोक, सन्ताप आदि कुछ नहीं रहेंगे; क्योंकि ये (दुःख आदि) परमात्मतत्त्वमें नहीं हैं।

भगवान् कहते हैं—'**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**' (गीता १५। ७) अर्थात् इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है। वस्तुतः उत्पन्न और नष्ट होनेवाले संसारको पकड़नेके कारण ही यह 'अंश' कहलाता है। वस्तुतः यह अंश नहीं है। जैसे पिताके पास अरबों-खरबों रुपये हैं और पुत्र उसमेंसे एक लाख रुपये लेकर उन्हें अपना मान ले तो वह अपनेको उन एक लाख रुपयोंका मालिक समझता है पर वास्तवमें वह उनका गुलाम बन जाता है। यदि वह एक लाख रुपयोंको अपना न माने तो वह स्वतः-स्वाभाविक अरबों-खरबों रुपयोंका मालिक है—पिताकी पूरी सम्पत्तिका अधिकारी है। ऐसे ही उत्पन्न होनेवाली वस्तुका छोटा-सा टुकड़ा लेकर जीव उसमें फँस जाता है और दुःख पाता है। यदि वह ऐसा न करे तो आनन्दके समुद्रमें नित्य मग्न रहे। परंतु परमात्मासे विमुख होकर वह मुफ्तमें प्यासा मरता है—

आनँद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥

(विनय-पत्रिका १३६। २)

सांसारिक वस्तुएँ केवल सदुपयोग करनेके लिये हैं, आश्रय लेनेके लिये नहीं। आश्रय लेनेसे ही उनका दुरुपयोग होता है। रुपये खर्च करनेके लिये ही हैं। अपने या दूसरेके लिये खर्च करनेके अतिरिक्त रुपये और किस काम आयेंगे? रुपयोंके संग्रहसे अभिमान, आसक्ति, प्रमाद आदि ही बढ़ते हैं पर उनका संग्रह करके मनुष्य फँस जाता है। इसी प्रकार संसारके सब पदार्थ सदुपयोग करनेके लिये ही हैं। उन्हें अपने लिये मानकर मनुष्य मुफ्तमें बँध जाता है। पदार्थ तो अपने पास सदा रहते नहीं, केवल बन्धन-बन्धन रह जाता है।

सम्बन्ध सदा दोमें ही होता है। पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदिमें दोनों ओरसे (दोतरफा) सम्बन्ध होता है अर्थात् पिता कहता है कि यह मेरा पुत्र है और पुत्र कहता है कि यह मेरा पिता है, इत्यादि। परंतु शरीर, धन-सम्पत्ति आदि जड वस्तुओंके साथ सम्बन्ध केवल हमारी ओरसे ही (एकतरफा) होता है अर्थात् हम ही कहते हैं कि शरीर मेरा है, धन-सम्पत्ति मेरी है, पर शरीर, धन-सम्पत्ति आदि वस्तुएँ कभी हमें यह नहीं कहतीं कि तुम हमारे हो या हम तुम्हारे हैं। इन वस्तुओंसे हम अपना जो सम्बन्ध मान लेते हैं, वह सम्बन्ध ही बन्धनका खास कारण है। **इससे भी अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि वस्तुके न रहनेपर भी उससे सम्बन्ध मानते रहते हैं! सम्बन्धी तो नहीं रहता पर सम्बन्ध रह जाता है!** जैसे पतिका देहान्त हुए कई वर्ष बीत जानेपर भी विधवा स्त्री अपनेको उसीकी पत्नी मानती रहती है। वस्तुके रहते हुए भी हम उससे अपना सम्बन्ध तोड़ सकते हैं, फिर वस्तुके न रहनेपर तो उससे सम्बन्ध रहना ही नहीं चाहिये। वस्तुसे अपना जो सम्बन्ध दीखता है, वह केवल उस वस्तुके सदुपयोग-(सेवा)-के लिये ही है, अपना अधिकार जमानेके लिये नहीं।

यदि मनुष्य संसारसे माने हुए सम्बन्धका त्याग कर दे तो वह निहाल हो जाय! मनुष्यका वास्तविक सम्बन्ध परमात्माके साथ है, जो

नित्यसिद्ध है। अतः साधकको दृढ़तापूर्वक यह मान लेना चाहिये कि ये उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुएँ मेरी नहीं हैं। मेरे तो केवल भगवान् ही हैं—***'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।'***

उस नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वको उद्योगसाध्य (परिश्रमसाध्य या पुरुषार्थसाध्य) मान लेना भूल है। उद्योगसाध्य वस्तु बनावटी होती है। परमात्मतत्त्वमें हमारी स्थिति बनावटी नहीं है, अपितु वास्तविक है उसमें हमारी स्थिति स्वतः है। परमात्माके सिवा सब कुछ 'पर' है। 'पर' (संसार)-के अधीन होना पराधीनता है। **उद्योग इतना ही है कि पराधीनताको त्याग दें अर्थात् संसारसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लें। जो निरन्तर हमें छोड़ता चला जा रहा है, उसीको छोड़ना है।** यही साधन है। जो सदासे विमुख है, उस संसारसे ही विमुख होना है और जो सदासे सम्मुख है, उस परमात्मतत्त्वके ही सम्मुख होना है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५। ४३। १)

मनुष्यने संसारमें 'यह अपना है और यह अपना नहीं है'—इस प्रकार दो विभाग किये हुए है। वह जिसे अपना मानता है, उसीकी चिन्ता उसे होती है। जिस मकानको हमने अपना मान लिया है, उसीकी चिन्ता होती है। जिस मकानको अपना नहीं माना है, वह धराशायी हो जाय तो भी उसकी चिन्ता नहीं होती। वास्तवमें चिन्ता मकानकी नहीं, अपितु अपनेपनकी होती है। संसारमें प्रतिदिन कई मनुष्य मरते हैं, कई पशु-पक्षी मरते हैं, पर उनकी चिन्ता हमें नहीं होती, जबकि आरम्भको देखा जाय तो एक परमात्मासे ही सबकी उत्पत्ति होनेसे सब भाई-बन्धु ही हैं! अतः जिन-जिनको अपना माना है, उन-उनकी ही चिन्ता होती है। जिन्हें अपना नहीं माना है, वे मर जायँ तो भी चिन्ता नहीं होती। जबतक लड़कीका विवाह नहीं होता, तभीतक आपको उसकी चिन्ता रहती है। विवाह होनेके बाद वह लड़की आपके पास बैठी हो, तब भी उसकी चिन्ता नहीं होती। लड़की भी वही है और आप भी वही हैं। लड़कीके प्रति आपका वात्सल्य

भी वही है। पर अब चिन्ता इसलिये नहीं होती कि अब उसे आप अपनी नहीं मानते। संसार भी कन्याके समान है। इसे भगवान्‌के हाथ सौंप दें, तो सारी चिन्ताएँ मिट जायँ। भगवान् भी राजी हो जायँ, आप भी राजी हो जायँ और सृष्टि भी राजी हो जाय!

स्वयं नित्य-निरन्तर रहनेवाला है और संसार प्रतिक्षण बदलनेवाला है। अत: वास्तवमें संसारसे सम्बन्ध न होनेपर भी उससे जो सम्बन्ध मान रखा है, उसमें खास कारण यह है कि उससे सुख लेते हैं और उससे सुखकी आशा करते हैं। यही खास बीमारी है। इस बीमारीको मिटानेका उपाय है—संसारसे सुख न लें, अपितु उसे सुख दें। बस, इतनी ही बात है। संसारके पदार्थोंका उपयोग भोगबुद्धिसे न करें, अपितु शरीर-निर्वाहमात्रके लिये करें। संसारसे जो सुख लेना चाहते हैं, वह (सुख) दु:खोंका कारण है—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दु:खयोनय एव ते।**' (गीता ५। २२)। दु:खोंके कारणको तो छोड़ें नहीं और दु:खसे छूटना चाहें—यह कैसे होगा? इसलिये यदि दु:खोंसे छूटना हो तो सुख लेनेकी इच्छा छोड़नी ही पड़ेगी, नहीं तो दु:खोंसे कभी छूट नहीं सकते। वहम तो सुखका रहेगा पर पाना पड़ेगा दु:ख। इसमें किंचिन्मात्र सन्देह नहीं। अतएव घरसे लेकर बाहरतक सबको सुख पहुँचाना है। सबको सुखी करना तो हमारे वशकी बात नहीं है पर सबको सुखी करनेका भाव बनाना हमारे वशकी बात है। यदि साधकके हृदयमें प्राणिमात्रके हितका भाव रहेगा तो उसे परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति सुगमतापूर्वक हो जायगी—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:॥**' (गीता १२। ४)

प्रवचन—६

संसारमें हम देखते हैं कि प्रत्येक वस्तुका कोई उत्पादक होता है, कोई मालिक होता है। यह जो पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, वायु, आकाश आदि दीखते हैं और विभिन्न प्रकारके प्राणी, जीव-जन्तु दीखते हैं, इस

(सृष्टि)-का भी एक मालिक है। वह सबका मालिक है पर उसका कोई मालिक नहीं है। वह सबका उत्पादक है पर उसका कोई उत्पादक नहीं है। उसीको परमात्मा कहते हैं। आश्चर्यकी बात यह है कि उस परमात्माकी रची हुई वस्तुओंमें तो मनुष्य आकर्षित होते हैं, उन्हें अपना मानते हैं। उन्हें महत्त्व देते हैं, उनसे अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करते हैं पर उनका जो उत्पादक है, मालिक है, उसकी तरफ ध्यान ही नहीं देते!

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥

(गीता ११।७)

'हे गुडाकेश! अब इस मेरे शरीरमें तू एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह (भी) देख।'

तात्पर्य यह है कि चराचरसहित पूरा-का-पूरा जगत् तू मेरे शरीरमें केवल एक ही जगह देख, और अभी देख—'**पश्याद्य**' और कहाँ देख '**मम देहे**' अर्थात् मेरे शरीरमें देख। अर्जुन भी कहते हैं कि 'मैं सम्पूर्ण देवोंको आपके शरीरमें देखता हूँ'—'**पश्यामि देवांस्तव देव देहे**' (११।१५)। और संजय भी कहते हैं कि अर्जुनने 'सम्पूर्ण जगत्को भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित देखा—'**अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥**' (११।१३)। 'गुडाका' नाम निद्राका है और उसके मालिक (निद्राको जीतनेवाले)-को गुडाकेश कहते हैं। अर्जुनको '**गुडाकेश**' कहनेका तात्पर्य है कि आलस्यरहित होकर बड़ी सावधानीसे देख। और कुछ देखना चाहता है तो वह भी देख—'**यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि**'। भगवान् उसके मनकी बात जानते हैं कि वह और क्या देखना चाहता है। अर्जुन देखना (जानना) चाहते थे कि हमें युद्ध करना चाहिये या नहीं करना चाहिये और जीत हमारी होगी या उनकी होगी—'**न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।**' (गीता २।६)।

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्‌ने कहा था कि अर्जुन! बहुत जाननेसे क्या होगा; मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्‌को धारण करके स्थित हूँ। मैं तेरे सामने बैठा हूँ; अतः तुझे मेरी विभूतियोंको बहुत जाननेकी क्या जरूरत है, तू मेरी तरफ देख। तभी अर्जुनको वह रूप देखनेकी इच्छा हुई—'**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्**' (११।३) तो यह संसार भगवान्‌के एक अंशमें स्थित है। इस संसारको उत्पन्न करनेवाला भी वही है। इसका आधार और मालिक भी वही है। यह संसार उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है, जिसमें प्रवाहरूपसे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। ऐसे संसारको महत्त्व देता है वह जीव, जो भगवान्‌का अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। भगवान् नित्य-निरन्तर रहनेवाले हैं। ऐसे ही उनका अंश (जीव) भी नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। वह जीव नित्य-निरन्तर बदलनेवाले संसारको आदर देता है—यह बड़े आश्चर्यकी बात है!

भगवान्‌ने जड संसारको अपनी 'अपरा प्रकृति' और जीवको अपनी 'परा प्रकृति' बतलाया है (गीता ७।४-५)। परन्तु जीवने जगत्‌को धारण कर लिया—'**ययेदं धार्यते जगत्**' अर्थात् उसीमें उलझ गया। यदि यह जगत्‌को धारण न करे तो फिर जगत् नहीं रहेगा, अपितु एक भगवान् ही रह जायँगे—'**वासुदेवः सर्वम्**' (७।१९)। परन्तु जीव संसारको अपना मानकर उसीमें उलझ जाता है। इतना ही नहीं, संसारके अत्यन्त तुच्छ अंश रुपयोंको लेकर वह अपनेको बड़ा मानने लग जाता है। कितने आश्चर्यकी बात है! थोड़ी विद्या, थोड़ी शक्ति लेकर वह घमण्ड करने लग जाता है। हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीसे पूछा कि तुम्हारा कौन है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि जिसके थोड़े-से अंशको लेकर आपने त्रिलोकीपर विजय प्राप्त कर ली, वही मेरा है। मनुष्य तुच्छ-तुच्छ वस्तुओंको लेकर अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है। परन्तु **वास्तवमें उसका बड़प्पन परमात्माको प्राप्त करनेमें ही है।** परमात्माकी तरफ चलनेकी रुचि भी हो जाय तो मनुष्य बड़ा हो जाता है। जिसकी भगवान्‌में रुचि हो गयी है, उसके सामने संसारमात्रका वैभव भी कुछ नहीं है। भगवान् कहते हैं—

'**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।**' (गीता ६। ४४) अर्थात् परमात्मतत्त्वका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म (वेदों)-को अतिक्रमण कर जाता है। वेदोंके अध्ययन, यज्ञ, तप, दान आदिके जो फल बतलाये गये हैं, उन सम्पूर्ण फलोंको वह अतिक्रमण कर जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त कर लेता है (गीता ८। २८)। ऐसा करनेका अवसर मनुष्यशरीरमें ही है, जो हमें मिला हुआ है। परन्तु फिर भी तुच्छ वस्तुओंमें फँसे हुए हैं—यह कितने आश्चर्यकी बात है! तुच्छ वस्तुओंसे कबतक काम चलेगा? सदा हमारे साथ न धन रहेगा, न कुटुम्ब रहेगा, न मान-बड़ाई रहेगी, न यह अवस्था रहेगी, न शरीर रहेगा; क्योंकि ये रहनेवाली वस्तुएँ हैं ही नहीं।

अजानन् दाहात्म्यं पततिं शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद्वडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥

(भर्तृहरिवैराग्यशतक)

'जलनेसे होनेवाले दुःखको न जाननेके कारण ही पतंगा दीपमें गिरता है। न जाननेके कारण ही मछली वंसीमें लगे मांसके टुकड़ेको खा लेती है और फँस जाती है। परन्तु हमलोग जानते हुए भी विपत्तिके जटिल जालमें फँसानेवाली कामनाओंको, भोगोंको नहीं छोड़ते। अहो! यह मोहकी बड़ी गहन, विचित्र महिमा है!'

विचार करना चाहिये कि अबतक जो धन कमाया है, मान-बड़ाई प्राप्त की है, यदि आज मर जायँ तो वह क्या काम आयेगी? केवल अपना अमूल्य समय ही नष्ट किया। इसलिये अब चेत होना चाहिये। संसारका जो अनन्त अपार ऐश्वर्यशाली मालिक (भगवान्) हैं, उनसे प्रेम करेंगे तो वे भी हमसे वैसे ही प्रेम करनेको तैयार हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**' (गीता ४। ११)। रुपयोंके लिये हम कितना ही झूठ, कपट, बेईमानी आदि करें पर

जाते समय रुपये हमसे सम्मति भी नहीं लेते और चुपचाप खिसक जाते हैं। उन्हें दया ही नहीं आती कि इसने मेरे लिये कितना झूठ, कपट, बेईमानी, अन्याय आदि पाप किये हैं तो कम-से-कम जाते समय इसकी सम्मति तो ले लें। जो हमारा कोई आदर नहीं करते, उनके हम पीछे पड़े हैं और जो हमारा आदर करता है, हमसे स्नेह, प्यार करता है, उधर जाते ही नहीं! भगवान् हमारा कितना ध्यान रखते हैं। हमारा पालन-पोषण करते हैं और जीवन-निर्वाहका सब प्रबन्ध करते हैं, चाहे हम उन्हें मानें या न मानें। वे तो प्राणिमात्रके सुहृद् हैं—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९)। इसलिये आज ही निश्चय कर लें कि अब एक भगवान्‌की तरफ ही चलना है, उन्हींकी खोज करनी है। फिर कल्याणमें सन्देह नहीं। एकमात्र भगवान्‌की तरफ चलनेपर ये जितने बड़े-बड़े वैभव हैं, वे हमारी सेवा करनेके लिये तैयार हो जायँगे। बड़े-बड़े राजा-महाराजा और देवता भी भगवद्भक्तके दास होते हैं और उसके दर्शनसे अहोभाग्य मानते हैं। वैसा हम सभी हो सकते हैं। संसारका वैभव इकट्ठा करनेमें तो कोई स्वतन्त्र नहीं है पर भगवान्‌को प्राप्त करनेमें हम सब स्वतन्त्र हैं। आश्चर्यकी बात है कि स्वतन्त्रतासे तो विमुख हो रहे हैं और परतन्त्रताको दौड़-दौड़कर ले रहे हैं! इसलिये जो इस समस्त संसारका मालिक है, इसका उत्पादक, प्रकाशक और आधार है; जिसके एक अंशमें यह सारी सृष्टि स्थित है, उन अपने परमप्रियतम भगवान्‌से ही सम्बन्ध जोड़ लें। उन्हें चाहे माँ बना लें, चाहे पिता बना लें, चाहे पुत्र बना लें, चाहे भाई बना लें, चाहे मित्र बना लें और चाहे अर्जुनके समान सारथि बना लें, वे सब कुछ बननेको तैयार हैं। अर्जुन उनसे कहते हैं कि मेरा रथ दोनों सेनाओंके बीच खड़ा करो तो वे वैसा ही कर देते हैं। कितनी विचित्र बात है! इस प्रकार आज्ञाका पालन तो आजकल बेटा भी नहीं करता। ऐसे अपने प्यारे प्रभुको छोड़कर निष्ठुर संसारकी तरफ चलना कहाँकी बुद्धिमानी है?

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

(श्रीमद्भा० ३। २। २३)

'अहो! इस पापिनी पूतनाने जिसे मार डालनेकी इच्छासे अपने स्तनोंपर लगाया हुआ कालकूट विष पिलाकर भी वह गति प्राप्त की, जो धात्रीको मिलनी चाहिये, उसके अतिरिक्त और कौन दयालु है, जिसकी शरणमें जायँ!'

प्रवचन—७

साधकको गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि इन्द्रियोंके द्वारा हम जिन विषयोंका अनुभव करते हैं, क्या वे विषय अपने (स्वयं)-तक पहुँचते हैं? वास्तवमें सब विषय शरीरतक ही पहुँचते हैं; परंतु अपनेको शरीररूप ही माननेके कारण उन्हें गलतीसे स्वयंतक पहुँचते हुए मान लेते हैं। 'मैं हूँ' के रूपमें अपनी नित्य सत्ता है और शरीरादि जड वस्तुओंकी सत्ता अनित्य है। इसलिये अपनेतक कोई भी वस्तु नहीं पहुँचती। इसमें भी एक विशेष बात ध्यान देनेकी है कि वस्तुएँ जहाँतक पहुँचती हैं, वहाँ भी वे सदा नहीं रहतीं। अतः साधकको विचार करना चाहिये कि देखने-सुननेमें आनेवाले जितने भी पदार्थ हैं, वे अपनेतक तो पहुँचते नहीं और जहाँतक पहुँचते हैं, वहाँ भी सदा साथ नहीं रहते; अतः उनके द्वारा कबतक सुख लेंगे? उनके साथ कबतक रहेंगे? शरीरादि जड पदार्थोंमें परिवर्तन होता है पर अपनेमें परिवर्तन नहीं होता। ऐसे परिवर्तनशील पदार्थोंसे हम कबतक काम चलायेंगे? उनके भरोसे कबतक रहेंगे? इस प्रकार यदि साधक विचार करे तो उसकी शीघ्र ही उन्नति हो जाय।

विषयभोग तो अपनेतक नहीं पहुँचता पर उसका सुख और दुःखरूप परिणाम मनुष्य अपनेतक स्वीकार करता है—'**पुरुषः**

सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।' (गीता १३। २०) अर्थात् मनुष्य सुख-दुःखके भोगनेमें हेतु बनता है। जैसे मिली हुई वस्तुएँ सदा नहीं रहतीं, वैसे उनसे होनेवाला सुख-दुःख भी सदा नहीं रहता।

जब मनुष्यको पता लग जाता है कि यह साँप है, तब उसे वह छूता नहीं। भोग भी साँपके समान हैं। भोग भोगना साँपको पकड़नेके समान ही अनिष्टकारक है। धनादि पदार्थोंका संग्रह करना कूड़ा-करकट इकट्ठा करनेके समान है। संग्रहसे अपना कोई वास्तविक और सदा रहनेवाला हित सिद्ध नहीं होगा। भोग और संग्रह—दोनों ही अपनेतक नहीं पहुँचते। अत: इनसे अपना बिलकुल भी सम्बन्ध नहीं है।

भोगोंसे सम्बन्धजन्य सुख होता है और संग्रहसे अभिमानजन्य सुख होता है। इन दोनों सुखोंमें जो आसक्त है अर्थात् इनके पराधीन है, वह कभी पूर्ण सुखी नहीं हो सकता—'**पराधीन सपनेहुँ सुखु नाहीं।**' (मानस १। १०१। ३)। वास्तविक सुख स्वाधीन होनेमें ही है। परंतु भोग और संग्रहमें आसक्त होनेके कारण मनुष्य पराधीनतामें भी सुखका अनुभव करता है। वह सोचता है कि मेरे पास रुपये हैं तो मैं स्वाधीन हूँ पर वास्तवमें वह पराधीन ही है।

एक स्त्रीने मुझसे कहा कि 'मैं पुरुष होती तो बड़ा अच्छा रहता। मुझे इस बातका दुःख है कि स्त्रीको पुरुषके पराधीन रहना पड़ता है। स्वाधीन रहनेके कारण पुरुष व्यापार आदिसे अच्छी तरह धन कमा सकता है पर स्त्री ऐसा नहीं कर सकती!'

मैंने उससे कहा कि 'तुम धनकी प्राप्तिमें स्वतन्त्रता मानती हो कि मेरे पास धन हो जाय तो मैं स्वतन्त्र हो जाऊँ पर यह बताओ कि धन 'स्व' है या 'पर'? उसने कहा कि 'धन' तो 'पर' है, 'स्व' तो है नहीं।'

मैंने पूछा कि 'धनकी परतन्त्रता और पुरुषकी परतन्त्रता—दोनोंमें सबसे अधिक परतन्त्रता किसकी है?' उस स्त्रीकी बुद्धि तेज थी। उसने तुरंत कहा कि 'सबसे अधिक परतन्त्रता धनकी ही है। इसलिये पुरुषके अधीन रहना ही अच्छा है।'

धन तो जड है। उसकी परतन्त्रतासे तो चेतन पुरुषकी परतन्त्रता ही अच्छी है। पुरुष तो माता, पिता या पति होगा पर धन माता, पिता या पति नहीं होता। **इसमें भी माता, पिता या पतिकी परतन्त्रता हमें वास्तवमें स्वतन्त्र बनानेवाली है। उनकी पराधीनतामें भी महान् स्वतन्त्रता भरी पड़ी है। एक उनके पराधीन नहीं होनेसे हमें अनेकोंके पराधीन होना पड़ेगा और एक उनके पराधीन रहें तो हम वास्तवमें स्वाधीन हो जायँगे।**

लोग सोचते हैं कि हमारे पास लाखों-करोड़ों रुपये हो गये तो हम स्वतन्त्र (बड़े) हो गये पर वास्तवमें वे महान् परतन्त्र (छोटे) हो गये। यदि धनके कारण हम बड़े हो गये, तो वास्तवमें हम धनसे छोटे ही हुए। विचार करना चाहिये कि हम चेतन हैं और धन जड है तथा वह धन भी हमारा ही पैदा किया हुआ है। फिर उस धनके कारण अपनेको बड़ा मानना कहाँतक सही है?

इस प्रकार साधकको अपने जीवनपर विचार करके पराधीनता (संसार और शरीरके आश्रय)-का त्याग कर देना चाहिये।

प्रवचन—८

हम यह तो कहते हैं कि मन मेरा है, बुद्धि मेरी है, इन्द्रियाँ मेरी हैं, प्राण मेरे हैं पर यह नहीं कहते कि मैं मन हूँ, मैं बुद्धि हूँ, मैं इन्द्रियाँ हूँ, मैं प्राण हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ कि 'मैं'-पन 'मेरा' पनसे अलग है अर्थात् मेरे कहलानेवाले पदार्थोंसे मैं अलग हूँ। विचार करें तो मेरे कहलानेवाले पदार्थ भी वास्तवमें मेरे नहीं हैं, अपितु प्रकृतिके हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरके साथ तादात्म्य करनेके कारण ही ये मेरे प्रतीत होते हैं।

अपना स्वरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों ही शरीरोंसे अलग है। अतः स्वरूपमें इन शरीरोंकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थाएँ नहीं हैं। अवस्थाएँ बदलती हैं और स्वरूप नहीं बदलता।

स्वरूप इन अवस्थाओंको जाननेवाला है; अतः इनसे अलग है। यदि इन अवस्थाओंको जाननेवाला अवस्थाओंसे अलग न होता तो इन तीनों अवस्थाओंकी गणना कौन करता? और इनके बदलनेको कौन देखता? अवस्थाएँ तीन हैं और ये बदलती हैं—इसमें किसीको भी संदेह नहीं। तात्पर्य यह निकला कि अपना स्वरूप अवस्थाओंसे अलग है।

हम सबका यह अनुभव है कि अवस्थाएँ हमारे बिना नहीं रह सकतीं पर हम अवस्थाओंके बिना रह सकते हैं और रहते भी हैं। जब जाग्रत्‌से स्वप्न-अवस्थामें जाते हैं, तब उस (जाग्रत् और स्वप्नकी) सन्धिमें कोई अवस्था नहीं होती। इसी प्रकार स्वप्नसे सुषुप्ति-अवस्थामें जाते हैं, तब उस सन्धिमें कोई अवस्था नहीं होती। परंतु उनकी सन्धिमें कोई अवस्था न होनेपर भी हम रहते हैं। स्वप्न-अवस्था चली गयी और जाग्रत्-अवस्था आ गयी, सुषुप्ति-अवस्था चली गयी और जाग्रत्-अवस्था आ गयी—इस प्रकार अवस्थाओंके बदलनेको हम जानते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि हम अवस्थाओंसे अतीत हैं।

'मैं' शब्दके दो अर्थ हैं—एक सत्तारूप वास्तविक 'मैं' और दूसरा माना हुआ 'मैं'। वास्तविक 'मैं' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है पर माना हुआ 'मैं' किसी भी समय एक नहीं रहता, अपितु बदलता रहता है; जैसे—मैं जागता हूँ, मैं सोता हूँ, मैं धनी हूँ, मैं निर्धन हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं साधु हूँ, मैं गृहस्थ हूँ इत्यादि। यह माना हुआ 'मैं परस्पर विरुद्ध मान्यता भी करता है; जैसे—पिताके सामने 'मैं' पुत्र हूँ' और पुत्रके सामने 'मैं पिता हूँ'। अतः यह माना हुआ 'मैं' हमारा वास्तविक स्वरूप नहीं है। इस 'मैं' को पकड़नेसे ही हम परिच्छिन्न होते हैं; क्योंकि जिसके साथ हम 'मैं' मानते हैं, वह परिच्छिन्न (एकदेशीय) है। अपनी वास्तविक सत्तामें परिच्छिन्नता नहीं है।

मानी हुई परिच्छिन्नता मिटानेके लिये साधक ऐसा मान ले कि 'मैं भगवानका हूँ' अथवा विवेकपूर्वक यह मान ले कि माना हुआ 'मैं' अर्थात् असत् मेरा स्वरूप नहीं है। स्वरूपके प्रकाशमें मन-बुद्धिके

समान 'मैं' पन भी प्रकाशित होता है। गहरा विचार किया जाय तो ज्ञान (बोध) वस्तुत: असत्‌का ही होता है, सत्‌का नहीं। 'मैं हूँ' इस प्रकार अपनी सत्ताका ज्ञान तो रहता ही है और इसमें किसीको सन्देह नहीं होता। परन्तु अपनी सत्तामें जो असत्‌को मिलाया हुआ है, उस असत्‌का ज्ञान हमें नहीं होता। यह सिद्धान्त है कि असत्‌का ज्ञान असत्‌से अलग होनेपर होता है और सत्‌का ज्ञान सत्‌से अभिन्न होनेपर होता है; क्योंकि वास्तवमें हम असत्‌से भिन्न और सत्‌से अभिन्न हैं। अतएव जिस क्षण असत्‌का ज्ञान होता है, उसी क्षण असत्‌की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् असत्‌से अपनी भिन्नताका बोध हो जाता है। असत्‌से भिन्नताका बोध होते ही सत्‌में हमारी स्थिति स्वत:सिद्ध है, करनी नहीं पड़ती। वह सत् ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंको, उनके परिवर्तनको और उनके अभावको जानता है। जाग्रत्‌में स्वप्न और सुषुप्तिका अभाव, स्वप्नमें जाग्रत् और सुषुप्तिका अभाव तथा सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्नका अभाव होता है। पर अपना अभाव कभी नहीं होता। सब अवस्थाओंमें अपना भाव अर्थात् अपनी सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। यह सबका अनुभव है। साधकको चाहिये कि वह अपने अनुभवको महत्त्व दे अर्थात् अपने स्वरूपमें अटल भावसे स्थित रहे।

आवत हर्ष न ऊपजै जावत सोक न होय।
ऐसी रहनी जो रहै घर में जोगी होय॥
इस जग की कोई वस्तु न हमें सुहाती।
पल-पलमें श्यामल मूर्ति स्मरण है आती॥
उगा सो ही आथवें फूला सो कुम्हलाय।
चिण्या देवल ढह पड़े जाया सो मर जाय॥

प्रवचन—९

प्राय: साधकोंकी यह धारणा रहती है कि करनेसे ही सब कुछ होता है, इसलिये शुभ कर्म करने चाहिये। यह धारणा बड़ी अच्छी है पर कर्म कर्ताके अधीन होते हैं। अत: कर्ता जैसा होता है, उसके द्वारा कर्म भी वैसे ही होते हैं। कर्मयोग भी निष्काम कर्मसे नहीं होता, अपितु निष्काम कर्तासे होता है; अत: स्मरण, कीर्तन, जप, ध्यान, स्वाध्याय आदि करना बहुत उत्तम है और करना भी चाहिये। परन्तु जप, ध्यानादि कर्म एक तो स्वत: होते हैं और एक करने पड़ते हैं। जबतक कर्तामें भाव नहीं है, तबतक उसे जप, ध्यानादि करने पड़ते हैं। पर भाव होनेसे उसके द्वारा स्वत:स्वाभाविक ही जप, ध्यानादि होते हैं और तेजीसे होते हैं। कर्तामें भाव कैसे आये? इसपर विचार करें।

जहाँ हम 'मैं हूँ' इस प्रकार अपने-आपको मानते हैं, वहीं यह मान लें कि 'मैं भगवान्‌का हूँ'। इस प्रकार जब 'मैं'-पनमें अटल भाव हो जायगा, तब निरन्तर स्वत: भगवान्‌का भजन होगा। अभी तो घर (संसार)-का काम स्वत: होता है और रात-दिन हरदम होता है। जैसे नौकरी करते हैं तो समयपर जाते हैं और समयपर आते हैं, वैसे ही जप-ध्यानादि भी समयपर करते हैं। तात्पर्य यह है कि जप-ध्यानादि कर्म समयकी सीमामें बँधे रहते हैं। यदि हमारा भाव हो जाय कि 'मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान् मेरे हैं' तो घरके कामकी तरह रात-दिन हरदम भगवान्‌का भजन होगा। भजनके बिना रह नहीं सकेंगे और घर (संसार)-का काम नौकरीकी तरह होगा। अत: कर्तामें परिवर्तन होनेसे कर्मोंमें स्वत:स्वाभाविक और शीघ्रतासे परिवर्तन हो जाता है।

साधकसे भूल यह होती है कि वह 'मैं हूँ' के स्थानपर अपने नाम, वर्ण, आश्रम, जाति, सम्प्रदाय आदिको बैठा देता है, और मैं अमुक नामवाला हूँ, मैं अमुक वर्णवाला हूँ, मैं साधु हूँ, मैं गृहस्थ हूँ आदि अनेक मान्यताएँ कर लेता है। ऐसी मान्यताओंके कारण साधनकी

सिद्धिमें विलम्ब होता है। कारण कि ये मान्यताएँ 'मैं' में रहती हैं और भगवान्‌का भजन (उपासना) 'कर्म' में रहता है। साधकको चाहिये कि वह 'मैं भगवान्‌का हूँ'—इस प्रकार 'मैं' में भगवान्‌को रखे और वर्णाश्रम आदिको 'कर्म' में रखे। तात्पर्य यह है कि **भीतरसे 'मैं तो भगवान्‌का हूँ' ऐसा मानते हुए बाहरसे नाटकमें स्वाँगकी तरह अपने वर्णाश्रम आदिके कर्तव्यका पालन करता रहे।**

जहाँ साधक 'मैं हूँ' मानता है, वहाँ भगवान् उससे भी अधिक सूक्ष्मरूपसे विराजमान हैं। 'मैं हूँ' क्षेत्रज्ञ अर्थात् क्षेत्र (शरीर)-को जाननेवाला (गीता १३। १) और भगवान् कहते हैं कि सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।**' (गीता १३। २)। तात्पर्य यह कि क्षेत्रज्ञ तो केवल एक शरीरके साथ सम्बन्ध रखनेवाला है पर क्षेत्रज्ञमें जो परमात्मा हैं उनका किसी शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं है और सबमें परिपूर्ण होनेके कारण उनका सबसे सम्बन्ध है! वे ही वास्तवमें अपने हैं। हम जिस शरीरको अपना मानते हैं, वह कभी अपना था नहीं, है नहीं और रहेगा नहीं। पर परमात्मा अपने थे, अपने हैं और अपने रहेंगे। वे अपनेसे कभी विमुख नहीं हुए। हम ही उनसे विमुख हुए हैं। वे परमात्मा बड़े मधुर हैं, बड़े प्रिय हैं और वे अपनेमें हैं—ऐसा माननेपर वे याद किये बिना ही याद रहेंगे, भजन किये बिना ही उनका भजन होगा, चिन्तन किये बिना ही उनका चिन्तन होगा। उनमें स्वतः ऐसी प्रियता होगी, जैसी अपने शरीरमें और अपने जीते रहनेमें भी नहीं है।

'मैं हूँ' में जो 'हूँ' है, वह शरीरको लेकर है। उस 'हूँ' में 'है' रूपसे परमात्मा ही हैं। तू है, यह है, वह है—सब जगह परमात्मा ही 'है'-रूपसे विद्यमान हैं। जड और चेतनमें, स्थावर और जंगममें, उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें, भाव और अभावमें—सब जगह वे परमात्मा ज्यों-के-त्यों हैं। साधक यदि 'हूँ' का त्याग कर दे अर्थात् 'मैं' (अहंता)-को मिटाकर सामान्य सत्तामें स्थित हो जाय

(जो वास्तवमें है) और 'है' रूपसे विद्यमान परमात्माको अपना मान ले, तो फिर उनकी विस्मृति नहीं होगी। जप-ध्यानादि भी स्वतः होंगे, करने नहीं पड़ेंगे। अपनेमें प्रभु स्वतः हैं, बनावटी नहीं हैं। जो अपनेमें स्वतः है, उसकी ओर दृष्टि करनेमें देरी किस बातकी? अपनेमें प्रभुको देखनेवाला कौन है? जो क्षेत्रको देखता था, वही अपनेमें प्रभुको देखता है। जिसका अंश है, उसीको देखता है। अपने अंशीको देखते ही वह अंशीमें मिल जाता है।

अंशीमें मिलनेके दो तरीके हैं—अभेदपूर्वक और अभिन्नतापूर्वक। पहले अभेद होता है, फिर अभिन्नता होती है। अभेदमें भेदकी कुछ गन्ध रहती है पर अभिन्नतामें यह नहीं रहती। अभिन्नता वास्तविक है। अभिन्नता भेद-उपासनामें भी होती है और अभेद-उपासनामें भी होती है। भेदमें अभिन्नता ऐसे होती है कि जैसे कहींका लड़का और कहींकी लड़की गृहस्थमें आकर एक हो जाते हैं तो भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनमें अभिन्नता हो जाती है। इसी प्रकार दो मित्रोंमें भी अभिन्नता होती है। भिन्न-भिन्न होते हुए भी अभिन्न हो जाना 'ज्ञान' है और अभिन्न होते हुए भी भिन्न-भिन्न हो जाना 'भक्ति' है।

स्वयं (स्वरूप) परमात्मासे अभिन्न है, परंतु संसार और शरीरसे सम्बन्ध माननेके कारण परमात्मासे भिन्नता प्रतीत होती है। अतः संसार और शरीरसे विमुख हो जायँ कि यह 'मैं' नहीं और 'मेरा' नहीं; और 'मैं' प्रभुका हूँ और प्रभु 'मेरे' हैं—इस प्रकार परमात्माके सम्मुख हो जायँ। सम्मुख होते ही उनसे अभिन्नता हो जाती है। अभिन्नताके बाद फिर बड़ा विचित्र आनन्द है। वह (द्वैत) अद्वैतसे भी सुन्दर है—'**भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्**'। वहाँ केवल आनन्द-ही-आनन्द है, मस्ती-ही-मस्ती है। उसे प्राप्त करना चाहें तो अभी कर सकते हैं। प्राप्त क्या करना है, वह तो प्राप्त ही है। केवल दृष्टि उधर करनी है। इतनी सीधी, सरल और श्रेष्ठ बात कोई नहीं है। गीतामें भगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ (१८।५५)

'पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस भक्तिसे मुझे तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

'**विशते तदनन्तरम्**' पदोंका यह अभिप्राय है कि भगवान्‌को तत्त्वसे जानने अर्थात् उनका अनुभव होनेके बाद फिर उनसे अभिन्न **होनेमें एक क्षणका भी अन्तर नहीं पड़ता। शरीर-संसारसे माना हुआ सम्बन्ध छूटते ही ज्यों-के-त्यों विद्यमान परमात्माका अनुभव हो जाता है।** उनका अनुभव होते ही तत्काल भिन्नता मिट जाती है। वास्तवमें भिन्नता है ही नहीं, तभी वह मिटती है। यदि वास्तवमें भिन्नता होती, तो उस (सत्)-का अभाव कैसे होता?

असत् (संसार)-में जो आकर्षण या प्रियता है, वह 'आसक्ति' कहलाती है। वही आकर्षण भगवान्‌में हो जाय, तो उसे 'भक्ति' या 'प्रेम' कहते हैं। धनमें, भोगोंमें, परिवार आदिमें जो हमारा खिंचाव है, वह खिंचाव भगवान्‌की तरफ होते ही भक्ति हो जाती है। वास्तवमें अपनेमें भक्तिका संस्कार—भगवान्‌का खिंचाव स्वतः है, पर असत्‌से सम्बन्ध जोड़नेसे असत्‌की ओर खिंचाव हो गया। लक्ष्य (परमात्मा)-की प्राप्ति होनेपर असत्‌का खिंचाव सर्वथा मिट जाता है।

अब के सुलताँ फनियान समान हैं, बाँधत पाग अटब्बर की।
तजि एकहिं दूसरे को जो भजै, कटि जीभ गिरै वा लब्बर की॥
सरनागति 'श्रीपति' श्रीपतिकी, नहिं त्रास है काहुहि जब्बर की।
जिनको हरि की परतीति नहीं, सो करौ मिलि आस अकब्बर की॥

प्रवचन—१०

मनुष्यका कल्याण किसी परिस्थितिके अधीन नहीं है, अपितु उसके सदुपयोगमें है। कैसी ही प्रतिकूल परिस्थिति क्यों न हो, उसमें वह अपना कल्याण कर सकता है। मनुष्य परिस्थितिको बदलनेका प्रयास अधिक करता है कि निर्धनता चली जाय और धनवत्ता आ जाय, मूर्खता चली जाय और विद्वत्ता आ जाय, रोग चला जाय और नीरोगता आ जाय, इत्यादि। इसीमें उसका बहुत समय चला जाता है। परंतु कल्याण करनेके लिये 'प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग कैसे किया जाय'?—इसपर विचार करें तो बहुत लाभ होगा।

संसारमें ऐसी कोई भी परिस्थिति नहीं है कि जिसमें जीवका कल्याण न हो सकता हो। कारण कि परमात्मा किसी भी परिस्थितिमें कम या अधिक, समीप या दूर नहीं हैं, अपितु प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे विद्यमान हैं। अतः प्रत्येक परिस्थिति परमात्माकी प्राप्तिमें साधक हो सकती है, बाधक नहीं। मनुष्य-जन्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है और किन्हीं दो मनुष्योंकी भी परिस्थिति समान नहीं रहती। इसलिये किसी एक परिस्थितिमें ही परमात्माकी प्राप्ति होती हो तो सब मनुष्योंका कल्याण हो सकता है—यह बात नहीं कही जाती, अपितु यह कहते कि किसी एकका ही कल्याण होगा। अतः साधकको प्रत्येक परिस्थितिका सदुपयोग करना चाहिये। सदुपयोगके लिये पहले परिस्थितिको देखे कि वह हमारे अनुकूल है या प्रतिकूल? यदि प्रतिकूल है, तो उसमें अनुकूलताकी इच्छाका त्याग करना है। प्रतिकूल परिस्थिति दुःखदायी तभी होती है, जब सुखदायी परिस्थितिकी इच्छा करते हैं। इसलिये यदि सुखदायी परिस्थिति-(अनुकूलता-)की इच्छाका त्याग करें तो दुःखदायी परिस्थिति (प्रतिकूलता) विकासका कारण हो जायगी। ऐसे ही सुखदायी परिस्थिति आये तो उसके सुख-भोगका और 'वह बनी रहे' ऐसी इच्छाका त्याग करना है; क्योंकि वह रहनेवाली है ही नहीं। उसका सुख स्वयं न भोगकर

उसके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनी है; क्योंकि अनुकूल परिस्थिति दूसरोंकी सेवाके लिये ही है, अपने सुखभोगके लिये नहीं।

एहि तन कर फल बिषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥

(मानस ७। ४३। १)

'त्याग' अर्थात् सुखका भोग नहीं करना और 'सेवा' अर्थात् दूसरोंको सुख पहुँचाना—ये दोनों ही चीजें कल्याण करनेवाली हैं, जिसे प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। त्यागमें सेवा होती है और सेवामें त्याग होता है।

मनुष्य दुःखदायी परिस्थितिमें भी दूसरोंकी सेवा कर सकता है, दूसरोंको सुख पहुँचा सकता है। कोई कहे कि मेरे पास पैसे नहीं हैं, तो दूसरेको सुख कैसे पहुँचाऊँ! तो पैसोंसे ही दूसरोंको सुख पहुँच सकता हो—ऐसी बात नहीं है। हमारे हृदयमें दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव होना चाहिये। दूसरा दुःखी है तो उसके साथ हम भी हृदयसे दुःखी हो जायँ कि उसका दुःख कैसे मिटे? उससे प्रेमपूर्वक बात करें और सुनें। उससे कहें कि दुःखदायी परिस्थिति आनेपर घबराना नहीं चाहिये; ऐसी परिस्थिति तो भगवान् राम एवं नल, हरिश्चन्द्र आदि अनेकों बड़े-बड़े पुरुषोंपर भी आयी है; आजकल तो अनेक लोग तुम्हारेसे भी अधिक दुःखी हैं; हमारे लायक कोई काम हो तो कहना, इत्यादि। ऐसी बातोंसे वह राजी हो जायगा। ऐसे ही सुखी व्यक्तिसे मिलकर हम भी हृदयसे सुखी हो जायँ कि बहुत अच्छा हुआ तो वह राजी हो जायगा। इस प्रकार हम सुखी और दुःखी—दोनों व्यक्तियोंकी सेवा कर सकते हैं। दूसरेके सुख और दुःख—दोनोंमें सहमत होकर हम दूसरेको सुख पहुँचा सकते हैं। केवल दूसरोंके हितका भाव **'सर्वभूतहिते रताः'** निरन्तर रहनेकी आवश्यकता है। जो दूसरोंके दुःखसे दुःखी और दूसरोंके सुखसे सुखी होते हैं, वे संत होते हैं—***'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'*** (मानस ७। ३७। १)।

एक शंका होती है कि हम पहले ही अपने दुःखसे दुःखी हैं, फिर दूसरेके दुःखसे भी दुःखी होने लगें तो हम तो हरदम रोनेमें ही रहे! हमारा

दु:ख फिर कभी मिटेगा ही नहीं; क्योंकि संसारमें दु:खी तो मिलते ही रहेंगे! इसका समाधान यह है कि जैसे हमारे ऊपर कोई दु:ख आनेसे हम उसे दूर करनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही दूसरेको दु:खी देखकर अपनी शक्तिके अनुसार उसका दु:ख दूर करनेकी चेष्टा होनी चाहिये। उसका दु:ख दूर करनेकी सच्ची भावना होनी चाहिये। अत: दूसरेके दु:खसे दु:खी होनेका तात्पर्य उसके दु:खको दूर करनेका भाव तथा चेष्टा करनेसे है, जिससे हमें प्रसन्नता ही होगी, दु:ख नहीं। दूसरेके दु:खसे दु:खी होनेपर अपने पास शक्ति, योग्यता, पदार्थ आदि जो कुछ भी है, वह सब स्वत: दूसरेका दु:ख दूर करनेमें लग जायगा। दु:खी व्यक्तिको सुखी बना देना तो हमारे हाथकी बात नहीं है पर उसका दु:ख दूर करनेके लिये अपनी सुख-सामग्रीको उसके अर्पित कर देना हमारे हाथकी बात है। इस प्रकार सुख-सामग्रीके त्यागसे तत्काल शान्तिकी प्राप्ति होती है—'**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**' (गीता १२।१२)।

पातंजलयोगदर्शनमें आया है—**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**। (१।३३) अर्थात् सुखीके साथ मैत्री, दु:खीके साथ करुणा, पुण्यात्माके साथ प्रसन्नता और पापात्माके साथ उपेक्षाकी भावना रखनेसे चित्त निर्मल होता है।

परंतु गीताने इन चारों बातोंको दोमें बाँट दिया है—'**मैत्रः करुण एव च**' (१२।१३)। तात्पर्य यह कि सुखी और पुण्यात्माको देखकर मैत्री हो एवं दु:खी और पापात्माको देखकर करुणा हो। पापात्माकी उपेक्षासे उतना लाभ नहीं होता, जितना करुणासे होता है। मैत्री और करुणाके भावसे अन्त:करण निर्मल हो जाता है। सुखीको देखकर ईर्ष्या करनेसे और दु:खीको देखकर अभिमान करनेसे अन्त:करण मैला हो जाता है। पापात्मासे घृणा-द्वेष करनेपर भी अन्त:करण मैला हो जाता है।

हमारे सामने चाहे जैसी परिस्थिति, अवस्था, देश, काल, व्यक्ति, वस्तु आदि आये, वह सब-की-सब परमात्माकी प्राप्तिमें साधन-

सामग्री है। यदि मनुष्य उसका सदुपयोग करनेकी विद्या सीख जाय तो फिर उसका कल्याण निश्चित है।

कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, उसका सदुपयोग करना चाहिये। यदि सदुपयोग करना न आये तो सत्-शास्त्रोंमें देखे, संत-महापुरुषोंसे पूछे, स्वयं विचार करे, भगवान्‌को याद करे और उनसे प्रार्थना करे तो सद्‌बुद्धि पैदा हो जायगी। उसके अनुसार आचरण करनेसे उद्धार हो जायगा। गीता हमें सिखाती है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२।३८)

'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा।'

युद्धसे भी क्रूर कर्म और क्या होगा? पर वह भी जय-पराजय आदिमें सम होकर किया जाय, तो कल्याण करनेवाला हो जाता है। परन्तु प्रत्येक कर्म शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार होना चाहिये। प्रत्येक परिस्थितिमें हमारे सामने दो ही चीजें आती हैं—कर्म और उसका फल। अतः प्रत्येक कर्तव्य-कर्म शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके केवल दूसरोंके हितके लिये करें और फल (सुख-दुःखादि)-में सम रहें। ऐसा करनेसे परमात्मामें अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जायगा।

दुःखदायी परिस्थितिका सदुपयोग है—सुखकी इच्छाका त्याग करना। सुखकी इच्छासे ही दुःख होता है। सुखकी इच्छाका त्याग कर दे तो दुःख होगा ही नहीं। जैसे, बीमार होनेपर, 'मैं स्वस्थ हो जाऊँ' ऐसी इच्छा रहनेसे ही दुःख होता है। यदि बीमारीको भगवान्‌की भेजी हुई तपस्या मानें तो दुःख नहीं होगा। एक व्यक्ति व्रत रखनेके कारण अन्न नहीं खाता और एक व्यक्तिको अन्न नहीं मिलता तो व्रत रखनेवालेको अन्न न मिलनेका दुःख नहीं होता; क्योंकि उसमें अन्न खानेकी इच्छा ही नहीं है। परन्तु अन्न खानेकी इच्छा रहनेपर अन्न न मिले तो दुःख होता है।

प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आ जाय तो उससे एक तो पापोंका नाश होता है और एक नया विकास होता है। परन्तु दुःखसे दुःखी होनेपर विकास रुक जाता है। सुख आनेपर तो साधनमें बाधा आ सकती है पर दुःख आनेपर बाधा आ ही नहीं सकती; क्योंकि दुःख अटकानेवाला नहीं है। इसलिये सुख आये या दुःख, नफा हो या घाटा, बीमारी आये या स्वस्थता, आदर हो या निरादर, प्रशंसा हो या निन्दा, प्रत्येक परिस्थितिमें साधकको समान रहना चाहिये। ऐसा सुख आ जाय, इतना नफा हो जाय, ऐसी प्रशंसा हो जाय आदिकी इच्छा रखनेसे वैसा तो होता नहीं, वह मुफ्तमें दुःख पाता रहता है। सुखदायी परिस्थितिमें सुखी होना भी भोग है और दुःखदायी परिस्थितिमें दुःखी होना भी भोग है। परन्तु दोनों परिस्थितियोंका सदुपयोग किया जाय तो भोग नहीं होगा, अपितु योग होगा अर्थात् उसके द्वारा परमात्मासे सम्बन्ध हो जायगा। **भोगी व्यक्ति योगी नहीं हो सकता।**

दुःखदायी परिस्थितिमें भगवान्‌की स्मृति आयेगी, दूसरेका दुःख कैसा होता है—इसका अनुभव होगा और दयाका भाव आयेगा। वास्तवमें दुःखदायी परिस्थिति पापोंका फल नहीं, सुखकी इच्छाका फल है। मूल बात तो यही है। दुःखदायी परिस्थितिको भले ही पापोंका फल मान लें पर दुःखदायी परिस्थितिमें जो सुखकी इच्छा होती है, वह पापोंका फल नहीं, पापोंका कारण है। सुखकी इच्छा ही 'काम' है, जिससे सम्पूर्ण पाप होते हैं (गीता ३। ३६-३७)। सुख भोगनेसे सुखेच्छा बढ़ती है और सुखेच्छा बढ़नेसे दुःख बढ़ता है।

सुखेच्छाका त्याग करनेका उपाय है—दूसरोंको सुख पहुँचानेका भाव। जैसे, हमारे पास अधिक धन है तो निर्धनोंको सुख कैसे हो? हमारे पास विद्या अधिक है तो विद्याहीनोंको सुख कैसे हो? **हमारे पास जो भी सुखदायी सामग्री है, वह अपने भोगनेके लिये नहीं है। वह दूसरोंकी सेवा करनेके लिये ही है; दूसरोंके सेवामें लगाना ही उस सामग्रीका सदुपयोग है।** सुख और दुःख सदुपयोग करनेसे ही मिटेंगे, भोगनेसे नहीं। नहीं सदुपयोग करनेसे हम सुख और दुःख दोनोंसे ऊँचे

उठ जायँगे अर्थात् हमारा कल्याण हो जायगा। इसलिये प्रत्येक परिस्थिति हमारे कल्याणका साधन है। कारण कि भगवान्‌ने मनुष्यजन्म जीवके उद्धारके लिये दिया है। अतः उसे जो सामग्री दी है, वह कल्याणके लिये ही दी है।

करी गोपाल की सब होई।
जो अपनौं पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोई॥
साधन, मन्त्र, जन्त्र, उद्यम, बल, ये सब डारौ धोई।
जो कछु लिखि राखी नँदनंदन मेटि सकै नहिं कोई॥
दुख-सुख, लाभ-अलाभ समुझि तुम, कतहिं मरत हौ रोई।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम-चरन मन पोई॥

प्रवचन—११

तत्त्वकी प्राप्ति हो जाय और होते ही वह दृढ़ हो जाय ऐसी बात बतायी जाती है। बिलकुल सबके अनुभवकी बात है। जड प्रकृति परिवर्तनशील है और चेतन परमात्मतत्त्वमें कभी परिवर्तन नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। न बदलनेवालेका और निरन्तर बदलनेवालेका—दोनोंका हमें अनुभव है। बचपनसे लेकर अभीतक मैं वही हूँ—इसमें 'मैं वही हूँ' यह अनुभव न बदलनेवालेका है। संसार, शरीर, मनोवृत्ति, भाव, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदि बदलनेवाले हैं। यह सबका अनुभव है। परन्तु उन बदलनेवालेको जाननेवाले हम नहीं बदलते। बदलनेवालेमें जब हम स्थित रहते हैं, तब हमें सुख और दुःख होता है—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥**' (गीता १३। २०) अर्थात् पुरुष सुख-दुःखके भोगनेमें हेतु होता है। कौन-सा पुरुष? '**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि**' (गीता १३। २१) अर्थात् प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही भोक्ता बनता है। जो हमारी मनोवृत्ति बदलती है, हमारी अवस्था बदलती है, हमारी दशा बदलती है, हमारे भाव बदलते हैं, हमारी क्रियाएँ बदलती हैं, हमारी परिस्थितियाँ

बदलती हैं—इन बदलनेवालोंमें जब हम स्थित होते हैं, तब हम प्रकृतिमें स्थित होते हैं। मनमें जो काम-क्रोध, हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि वृत्तियाँ पैदा होती हैं, उनमें जब हम स्थित होते हैं, तब हम पराधीन होते हैं और सुख-दुःखका भोग करते हैं।

वास्तवमें एक दुःखके ही दो नाम सुख और दुःख हैं। जैसे दादकी बीमारी एक है पर उसीके दो नाम खुजली और जलन हैं। खुजली अच्छी लगती है और जलन बुरी लगती है तो जो अच्छी लगती है वह भी बीमारी है, जो बुरी लगती है वह भी बीमारी है। ऐसे ही बदलनेवालेके साथ मिलकर जो हम सुखी और दुःखी होते हैं, यह भी एक बीमारी है। बीमारीका मतलब यह कि हम अपने स्वरूपमें स्थित (स्वस्थ) नहीं हैं, प्रकृतिमें स्थित हैं। जब हम बदलनेवाली वृत्तियोंमें, भावोंमें, क्रियाओंमें स्थित नहीं होते, इनसे अलग रहते हैं, तब हम स्वस्थ रहते हैं। तब हम सुख-दुःखमें समान रहते हैं—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। **सम्पूर्ण अवस्थाओं, दशाओं, परिस्थितियों और घटनाओंमें हम रहते हैं, यह हमारा अनुभव है। अगर ऐसा नहीं हो तो सम्पूर्ण अवस्थाओं, दशाओं आदिका ज्ञान हमें कैसे होता ?** हमें इनका ज्ञान होता है, इससे सिद्ध होता है कि हम रहते हैं। हमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधिका ज्ञान होता है। सुख-दुःखका भी ज्ञान होता है। शोक, मोह, चिन्ता, राग, द्वेष आदिका भी हमें ज्ञान होता है तो हम शोक, मोह, चिन्ता, भय, उद्वेग आदिसे रहित हैं। अगर ऐसा नहीं है तो हमें सुखका अनुभव होगा, दुःखका अनुभव नहीं होगा, हम शोकमें ही रात-दिन रहते हैं तो प्रसन्नताका हमें अनुभव नहीं होगा। परंतु ऐसा है नहीं। अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर ठीक और बेठीक—दोनोंका ज्ञान हमें होता है तो वास्तवमें हम ठीक-बेठीकसे ऊँचे हैं। इस निर्द्वन्द्वतामें हम स्थित हो जायँ तो सुगमतासे मुक्त हो जायँ—'**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥**' (गीता ५। ३)। वास्तवमें तो हम मुक्त ही हैं पर द्वन्द्वोंको अपना मान करके फँस जाते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ (गीता ७। २७)

इच्छा (राग) और द्वेष, हर्ष और शोक—इन द्वन्द्वमोहसे मोहित होकर इनसे परे उस परमात्माको नहीं जानते। '**सर्गे यान्ति**' का मतलब—आरम्भमें ही यह जीव मोहको प्राप्त हो जाता है और बार-बार जन्मता-मरता रहता है। बदलनेवालेमें न स्थित होकर अपने स्वरूपमें जो कि सम्पूर्णको जानता है, स्थित हो जायँ और जाननेमें आनेवाली तथा बदलनेवाली वस्तुके साथ न बदलें अर्थात् उसके साथ अपनी एकता न मानें तो हमारी स्थिति स्वतःस्वरूपमें है। **स्वतःस्वरूपमें स्थितिका नाम है—जीवन्मुक्ति। पर स्वतः रहनेवालेके साथ न रहकर बदलनेवालेके साथ मिल जाते हैं, इसका नाम है—बन्धन।** बन्धनको हम जब चाहें तब छोड़ दें और जब चाहें तब पकड़ लें। इसमें हम पराधीन नहीं हैं, स्वाधीन हैं। बन्धन पकड़कर बन्धनमें कभी स्थित रह नहीं सकते और स्वरूपसे विमुख होकर स्वरूपसे अलग कभी रह नहीं सकते; क्योंकि बन्धन तो मिटते रहते हैं, हम नये-नये पकड़ते रहते हैं और हमारा जो स्वरूप है, वह ज्यों-का-त्यों ही रहता है, कभी बदलता नहीं। स्वरूपमें हमारी स्थिति स्वतःसिद्ध है। स्वतःसिद्ध स्थितिका आदर न करके परतः स्थितिका, जो बदलती रहती है, आदर करते हैं—महत्त्व देते हैं; इसीसे जन्म-मरणमें भटकते हैं और दुःख पाते हैं।

जब हम बदलनेवालेके साथ न रहकर, जो सम्पूर्ण बदलनेवालेको जानता है, उसमें स्थित हो जायँ तो हम अभी मुक्त हैं। मुक्तिके लिये भविष्य नहीं होगा। अमुक चीज नहीं है, अमुक अवस्था नहीं है, अमुक परिस्थिति नहीं है तो वह समय पाकर होगी। परन्तु यह समय पाकर नहीं होगा। यह समयसे अतीत है और सब समयमें है, किसी देशमें नहीं है और सम्पूर्ण देशोंमें है, किसी वस्तुमें नहीं है और सम्पूर्ण वस्तुओंमें है। देश-काल, वस्तु, व्यक्तिसे सर्वथा अतीत होते हुए भी सबमें परिपूर्ण है। उसमें स्थित होना स्वरूपमें स्थित होना है।

ज्ञानीकी भी वृत्तियाँ बदलती हैं—'**प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।**' (गीता १४। २२) अर्थात् तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषमें भी प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहकी वृत्तियाँ होती हैं। बदलना इनका स्वभाव है और न बदलना हमारा स्वभाव है। उस स्वरूपमें हम स्वतः-स्वाभाविक स्थित हैं। केवल प्रकृतिमें स्थित नहीं होना है।

अब कोई प्रश्न करे कि यह बात समझमें तो आती है पर टिकती नहीं। तो उसका उत्तर यह है कि वास्तवमें यह बात मिटती ही नहीं, प्रत्युत निरन्तर रहती है; क्योंकि यह बात टिकती नहीं—इसे तो हम जानते ही हैं। 'टिकती नहीं' यह प्रकृति है और 'जानते हैं' यह स्वरूप है। प्रकृतिके साथ मिलें नहीं, इतनी ही बात है। वह तो मिटती ही है और स्वरूप टिकता ही है।

यह टिकती नहीं—इसे जाननेवाला भी मिटता है क्या? यदि मिटता है तो जानता कौन है? मिटनेको जाननेवाला न रहे तो मिटनेको जानेगा कौन? प्रकृति परिवर्तनशील है। वह तो बदलेगी ही। जाग्रत् होगा, स्वप्न होगा, सुषुप्ति होगी, ठीक होगा, बेठीक होगा, अनुकूल होगा, प्रतिकूल होगा—यह तो सदा ही होगा। पर इसे जाननेवालेमें क्या फर्क पड़ा? हम बदलनेवालेमें स्थित न हों; बदलनेवालेकी परवाह न करें। हम अपने स्वरूपमें ही स्थित रहें। अपने स्वरूपकी परवाह करनी है, उससे च्युत नहीं होना है। यह निश्चय हम पक्का रखें। फिर इसमें गलती नहीं होगी। इसपर जितना टिक जायँ, उतना ही लाभ होगा।

प्रवचन—१२

हम सबके अनुभवकी बात है कि यह सब-का-सब दृश्य अदृश्य हो रहा है। यह जो संसार दीख रहा है, यह मिट रहा है। एक क्षण भी इसमें स्थिरता नहीं है। इसमें स्थिरता माननेसे ही राग-द्वेषादि द्वन्द्व होते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥ (गीता ७। २७)

इच्छा (राग) और द्वेषसे ही सब द्वन्द्व पैदा होते हैं। इन द्वन्द्वोंसे मोहित होकर यह जितना भी प्राणी-समुदाय है, यह वास्तविकताको नहीं जानता। इस द्वन्द्वसे ही सम्मोह पैदा होता है। तो इस कारण वह तत्त्वको जान नहीं सकता। अतः राग-द्वेष, हर्ष-शोक पैदा होते हैं—नश्वर शरीर और संसारको स्थिर माननेसे,'है' ऐसा माननेसे। यह सबके अनुभवकी बात है कि ये स्थिर नहीं हैं। संतोंने कहा है—

काची काया मन अथिर, थिर-थिर काम करंत।
ज्यों-ज्यों नर निधड़क फिरै, त्यों-त्यों काल हसंत॥

युधिष्ठिरजी महाराजने कहा है—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्।
शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

(महा०, वन० ३१३। ११६)

इससे बढ़कर क्या आश्चर्य होगा कि सब-के-सब अदर्शनमें जा रहे हैं, यमराजके घर जा रहे हैं और इच्छा करते हैं स्थिरताकी! जो स्थिरता कभी रहती नहीं और अभी भी स्थिरता है नहीं और कभी भी स्थिरता रहेगी नहीं। यहाँ तो केवल सेवा करनेके लिये आना हुआ है। शरीरसे, मनसे, वाणीसे, पदार्थोंसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे औरोंकी सेवा बन जाय, औरोंको सुख हो जाय, औरोंका भला हो जाय, औरोंका हित हो जाय—यह काम हमें करना है। इसमें बाधा होती है—संग्रह कर लें और सुख भोगें अर्थात् संग्रह करनेकी और सुख भोगनेकी आसक्ति। भगवान् कहते हैं—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गीता २। ४४)

भोग और संग्रहकी इच्छा होती है कि सुख भोग लूँ, संग्रह कर लूँ। इसी कारण 'एक परमात्माकी तरफ ही चलना है' यह निश्चय नहीं होता। इस निश्चयमें जितनी शक्ति है, उतनी किसी साधनमें नहीं है। नाम-जप, कीर्तन, सत्संग, स्वाध्याय, तप, तीर्थ, व्रत आदि साधन

बड़े श्रेष्ठ हैं। वास्तवमें यह बात ठीक है। परन्तु भीतरकी जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, वह यथार्थ ठीक होती है। उसका बहुत ज्यादा मूल्य होता है। भगवान्‌ने कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (गीता ९।३०)

साधन करनेवाला सदाचारी होता है। पर सुदुराचारी—सांगोपांग दुराचारी भी अन्यका भजन न करके, अन्यका आश्रय न रखकर भजन करता है तो उसे साधु मान लेना चाहिये—'**साधुरेव स मन्तव्यः**'— यह भगवान्‌की आज्ञा है। जब भगवान् उसे सुदुराचारी स्वीकार करते हैं तो उसे साधु कैसे मानें? तो कहा—'**सम्यग्व्यवसितो हि सः**' अर्थात् उसने निश्चय पक्का कर लिया कि केवल परमात्माकी तरफ ही चलना है। यह सम्पूर्ण साधनोंकी मूलभूत साधना है। इससे अपने-आप सब ठीक होगा। जैसे किसीके मनमें निश्चय हो जाय कि मुझे बदरीनारायण जाना है तो कैसे जाना है? रास्ता कैसा है? कितना है? आदि बातें स्वतः पैदा होंगी। स्वतः जिज्ञासा पैदा होगी। खोज करनेपर बतानेवाले और सहायता करनेवाले भी मिल जायँगे। ज्यों-ज्यों चलेगा, त्यों-त्यों आगे चलनेका सामान भी मिलेगा और उपाय भी कर लेगा। सब कुछ हो जायगा। तो एक निश्चय हो जानेसे सब काम बन जाता है। ऐसा निश्चय कब होता है? जब यहाँकी अस्थिरता देखता है। परन्तु भूलसे स्थिरता देखकर यहाँ ही डेरा लगा देता है कि बस, यहाँ ही रहना है। पर अभीतक जितने आये, कोई यहाँ नहीं रहा। अच्छे-अच्छे महात्मा, पीर, औलिया, संत हो गये; वे भी चले गये। भगवान्‌ने भी अवतार लिये पर हमारे इस मृत्युलोकके रिवाजको नहीं तोड़ा। वे भी चले गये। यहाँ रहनेकी रिवाज नहीं है, इसलिये यह जाने-ही-जानेवाला है। अगर यह ठीक जागृति रहे तो बहुत ही लाभ है।

जैसे कार्यालयमें काम करने जाते हैं तो भीतर यह बात बैठी रहती है कि कार्य समाप्त होते ही घर चल देंगे। इस बातको याद नहीं करते,

इसका चिन्तन नहीं करते, इसका जप नहीं करते। परन्तु बात भीतर जमी रहती है। इस तरह जो संसारमें रहनेकी बात है, वह बिलकुल उलटी बात है और यहाँ न रहनेकी बात बिलकुल सही बात है। सही बातको मान लें। इसमें कुछ करना नहीं पड़ता। इसे निर्विकल्परूपसे मान लेनेपर फिर यह विचारका विषय नहीं रहता। इस बातको मान लें तो बड़े भारी लाभकी बात है। ये जितने साधन हैं, सब इसके ऊपर आधारित हैं। यह सबकी आधारशिला (नींव) है। आस्तिक हो या नास्तिक, कोई क्यों न हो, यह सबके लिये सही बात है और ठीक अनुभवकी बात है। ऐसा नहीं कि शास्त्रोंमें लिखा है, मान लो; तो जिसकी श्रद्धा होगी, वह मान लेगा और जिसकी श्रद्धा नहीं होगी, वह नहीं मानेगा। इसमें तो श्रद्धाकी भी जरूरत नहीं है। यह तो प्रत्यक्ष और सीधी बात है कि हमारा बालकपना चला गया। उसे ढूँढ़ें तो वह मिलता नहीं। ऐसा ही प्रवाह अभी भी चल रहा है।

एक परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये ही हमारा आना हुआ है। उसीको प्राप्त करना है। पर यह तब होगा, जब इस संसारको अप्राप्त मानें। संसार प्राप्त नहीं हुआ है। हम अचल हैं। '**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥**' (गीता २ । २४) और यह सब चल है। चलके साथ मिलनेसे अपनेमें अस्थिरता मालूम देती है। स्थिर होते हुए भी अपनी स्थिरताका अनुभव नहीं होता। जैसे,हम गाड़ीमें जा रहे हैं और गाड़ी किसी छोटे स्टेशनपर ठहर गयी; क्योंकि सामनेसे दूसरी गाड़ी आ रही है, वह गाड़ी आकर दूसरी लाइनमें ठहर जाती है हम उस गाड़ीकी तरफ देखते हैं, वह गाड़ी चल पड़ती है तो मालूम होता है कि हम चल रहे हैं, जबकि हमारी गाड़ी स्थिर है, ऐसे ही यह शरीर-संसाररूपी गाड़ी चल रही है और उधर दृष्टि रहनेसे हम देखते हैं कि हम जवान हो रहे हैं, हम बूढ़े हो रहे हैं आदि। ऐसा दीखता है कि हम जा रहे हैं पर जा रहा है शरीर। इस प्रकार शरीर-संसारको तो स्थिर मान लिया और अपनेको जानेवाला मान लिया। शरीर-संसारको स्थिर माननेसे द्वन्द्व पैदा होते हैं और द्वन्द्वोंसे मोह पैदा

होता है। इस वास्ते जो द्वन्द्वमोहसे रहित होते हैं वे दृढ़व्रती होकर भगवान्‌का भजन करते हैं—

'ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥'

(गीता ७। २८)

राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है—

'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥'

(गीता ५। ३)

'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥'

(गीता १५। ५)

इसलिये भगवान् आज्ञा देते हैं कि तुम निर्द्वन्द्व हो जाओ—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

(गीता २। ४५)

हम निर्द्वन्द्व कब होंगे? जब शरीर-संसारको अस्थिर मानेंगे तब। अस्थिर माननेसे फिर राग-द्वेष नहीं होंगे।

अरब रात मिलिबे को निसिदिन, मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातैं, रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

प्रवचन—१३

अन्य न हो, उसको अनन्य कहते हैं। एक तरफ तो संसार है और एक तरफ भगवान् हैं। संसार और भगवान्‌के बीचमें जीवात्मा है। संसारमें रुचि न रहकर केवल भगवान्‌में रुचि होनेका नाम अनन्य भक्ति है। संसारमें भी रुचि हो और भगवान्‌में भी रुचि हो, यह अन्य भक्ति है, अनन्य भक्ति नहीं। संसारको भी चाहता है और भगवान्‌को भी चाहता है तो। *'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम'*; क्योंकि

संसार तो टिकेगा नहीं अर्थात् स्थायीरूपसे रहेगा नहीं और भगवान्‌को लेते नहीं। जिसको लेते हैं, वह तो रहता नहीं और जो रहता है, उसको लेते नहीं—यह दशा है हमारी! इसलिये जो रहे उसीको ले और जो न रहे उसको न ले—यह अनन्य भक्ति है।

मनुष्य-जन्मका ध्येय महान् आनन्दको प्राप्त कर लेना और दुःखोंसे सर्वथा रहित हो जाना है। दुःख तो वहाँ कोई पहुँचे नहीं और आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता, खुशी आदि कोई बाकी रहे नहीं। इसके लिये गीताके छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक बहुत कामका है। इसमें दो बातें बतायी गयी हैं—'**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**' जिस लाभकी प्राप्ति होनेके बाद उससे और कोई अधिक लाभ होगा, यह बात उसके माननेमें भी नहीं आती, और '**यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।**' वह जिसमें स्थित है, उससे कभी विचलित नहीं होता। बड़े भारी दुःखसे, बड़े भारी सन्तापसे, बड़ी भारी प्रतिकूल परिस्थितिसे वह विचलित नहीं होता। इतना ही नहीं, उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ तो भी वह विचलित नहीं होता, ज्यों-का-त्यों ही मौजूद रहता है। ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेना ही मनुष्य-जन्मका ध्येय है और इसी तत्त्वकी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर मिला है।

संसारका सुख-दुःख तो सम्पूर्ण प्राणी भोगते ही हैं। कुत्ते-गधे भी भोगते हैं, वृक्ष भी भोगते हैं अर्थात् सभी प्राणी सुखी-दुःखी होते हैं। अगर मनुष्यने केवल सुखी-दुःखी होनेमें ही समय बिता दिया तो मनुष्य-जन्म सफल नहीं होगा। नफा हो गया, नुकसान हो गया; संयोग हो गया, वियोग हो गया; आज तो मौज हो गयी, आज तो बड़ा दुःख हो गया; आज तो लाभ हो गया, आज तो हानि हो गयी—ऐसे थपेड़े तो सभी खाते हैं। देवताओंको देख लो, नरकोंके जीवोंको देख लो, चौरासी लाख योनिवाले जीवोंको देख लो, चाहे किसीको देख लो। अगर ऐसे थपेड़े मनुष्य भी खाता रहे तो यह मनुष्य-जन्मकी सफलता नहीं है; क्योंकि यह चीज (सुख-दुःख आदि) तो कहीं भी, किसी भी योनिमें मिल जायगी।

कुत्ता हो जाय चाहे गधा हो जाय, सूअर हो जाय चाहे ऊँट हो जाय, वृक्ष हो जाय चाहे दूब हो जाय, यह चीज सबमें मिल जायगी अर्थात् यह चीज किसी भी योनिमें दुर्लभ नहीं है, सब जगह सुलभ है। दुर्लभ चीज तो यही है कि **ऐसा सुख, ऐसा आनन्द प्राप्त हो, जिसमें दुःखका लेश भी न हो और आनन्दमें कोई कमी भी न हो। ऐसे तत्त्वकी प्राप्ति करना ही मनुष्य-जन्मका ध्येय है।** इसलिये मनुष्यको सबसे पहले यह पक्का विचार कर लेना चाहिये कि उस तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये ही मैं आया हूँ और उसको प्राप्त करना ही मेरा काम है। जो अधूरा हो और नष्ट होनेवाला हो, वह मेरेको नहीं लेना है। धन कमाऊँ तो अधूरा रह जायगा और साथमें नहीं रहेगा। मान-बड़ाई प्राप्त कर लूँ तो वह भी अधूरी रह जायगी और साथमें नहीं रहेगी। विद्या, योग्यता, अधिकार, पद आदि जो कुछ भी मिलेगा, वह सब अधूरा मिलेगा और साथ रहेगा नहीं। **ये अधूरी और साथमें न रहनेवाली चीजें मेरेको नहीं चाहिये।** ऐसा पक्का विचार हो जाय और केवल उस तत्त्वकी प्राप्ति चाहे, इसको अनन्यता कहते हैं।

पहले अपनी अहंता-(मैं-पन-) में अनन्यता होनी चाहिये कि मैं तो केवल उस तत्त्वको ही चाहता हूँ। जब अहंतामें यह चीज हो जायगी, तब अनन्य भक्ति होगी। मनुष्य यही सोचता है कि मैं काम करके कर्ता बनूँगा, भक्ति करके भक्त बनूँगा, ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी बनूँगा। यह बात भी ठीक है; पर ठीक होते हुए भी इसमें एक कमी है। वह कमी यह है कि 'मैं साधन करके साधक बनूँगा' फिर सिद्ध बनूँगा तो इसमें देरी लगेगी अर्थात् क्रियाओंके बदलनेसे भी अहंता बदलती है पर इसमें देरी लगेगी। परन्तु मैं साधक हूँ, मेरेको तो केवल उस तत्त्वको ही प्राप्त करना है, दुनिया चाहे उथल-पुथल हो जाय, मेरेको किसीसे कुछ भी मतलब नहीं, मैं तो केवल उसी एक (तत्त्व)-का ही जिज्ञासु हूँ—यह चीज जब अहंतामें आ जायगी अर्थात् जब ऐसा पक्का विचार हो जायगा तो उसकी सब क्रियाएँ अपने-आप बदल जायँगी। फिर वह कभी भी अपने ध्येयसे, उद्देश्यसे विचलित नहीं हो सकेगा। उसको लाखों-करोड़ों रुपये मिल

जायँ, बड़ा आदर-सत्कार हो जाय, बड़ी वाह-वाह हो जाय, बड़ा भारी पद मिल जाय, सम्राट् बन जाय तो भी वह विचलित नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह यही समझता है कि इनको प्राप्त करना मेरा ध्येय नहीं है। अमुक-अमुक कर्मके करनेसे स्वर्ग मिलेगा, ब्रह्मलोक मिलेगा, बड़ा भारी सुख मिलेगा—ऐसा लालच दिया जाय तो भी वह विचलित नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह उसको चाहता ही नहीं।

जैसे आजके जमानेमें जो शुद्ध खान-पानवाले आदमी हैं, उनसे कोई यह कहे कि 'यह मांस बहुत बढ़िया है' तो वे यही कहेंगे कि भाई, हमें लेना नहीं है। 'ये अण्डे बहुत बढ़िया हैं पर हमें लेना नहीं है।'

'इस जातिकी मछली बहुत बढ़िया है'। 'अरे! क्यों हल्ला करता है, हमें लेना ही नहीं है।'

ऐसे ही एक निश्चयवाले साधकसे कोई कहे कि 'भाई! संसारका यह सुख बहुत बढ़िया है, आरामवाली ये चीजें बहुत बढ़िया हैं' तो वह यही कहेगा कि 'भाई! हम इस सुख-आरामके ग्राहक नहीं हैं। हमें यह सुख-आराम भोगना ही नहीं है'।

'तुम ऐसा काम करोगे तो तुम्हें इतना लाभ हो जायगा, तुम्हारे पास इतना संग्रह हो जायगा, इतना रुपया इकट्ठा हो जायगा'।

'पर हमें संग्रह करना ही नहीं है'।

'हम तुम्हें इतना रुपया दे देंगे, इतना सोना-चाँदी दे देंगे, इतने हीरे दे देंगे, तुम्हें ऊँचा पद दे देंगे, मिनिस्टर बना देंगे'।

'कृपा करो बाबा! हमें यह गन्दी चीज लेनी ही नहीं है।'

तात्पर्य है कि बढ़िया-घटिया जो कुछ हो, हमें लेना ही नहीं है। हमें तो एक अलौकिक परमात्मतत्त्वको लेना है। जिसको मुक्ति, कल्याण, प्रेम-प्राप्ति कहते हैं, हमें वह लेना है। जिस तत्त्वको प्राप्त करनेके बाद कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता और दुःख वहाँ पहुँचता नहीं, हमें तो वह तत्त्व लेना है। और कुछ हमें लेना है ही नहीं।

'सब ऐसे कैसे हो सकते हैं?'

ऐसे सब हो सकते हैं; क्योंकि **मनुष्यमात्र उस तत्त्वका अधिकारी है।** वह किसी वर्णमें हो, किसी आश्रममें हो, किसी सम्प्रदायमें हो, किसी देशमें हो, किसी वेशमें हो, कैसा ही क्यों न हो, वह उस परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिका पूरा अधिकारी है। परन्तु संसारके अधिकारी सब पूरे नहीं हैं, धनके अधिकारी सब पूरे नहीं हैं, मान-बड़ाईके अधिकारी सब पूरे नहीं हैं। हाँ, इनका थोड़ा टुकड़ा-टुकड़ा मिल सकता है पर किसीको भी पूरा नहीं मिलेगा और वह तत्त्व सबको पूरा मिलेगा, उसका टुकड़ा नहीं होगा। अन्य योनियोंमें इस तत्त्वको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है। मानव-शरीरमें ही भगवान्‌ने वह योग्यता दी है, जिससे सभी उस तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। सांसारिक पद, अधिकार आदि दोको भी एक समान नहीं मिलेगा; परन्तु पहले जो शुकदेव मुनि हुए, सनकादि हुए, ब्रह्माजी हुए, भगवान् शंकर हुए, जीवन्मुक्त ऋषि हुए, बड़े-बड़े ज्ञानी महापुरुष हुए, उनको जो तत्त्व मिला है, वही तत्त्व आज हरेक मनुष्यको मिल सकता है, मनुष्यमात्रको मिल सकता है। पर शर्त इतनी ही है कि सांसारिक सुख और संग्रहको नापसन्द कर दे कि हमें सांसारिक सुख और संग्रह लेना नहीं है। सांसारिक सुख आ जाय, संग्रह हो जाय तो क्या करे? जैसे अनजानमें मैलेपर पग चला जाय, टिक जाय और पग मैलेसे भर भी जाय तो क्या करें? तो स्नान करके साफ करो। ऐसे ही संसारका सुख-आराम मिले, रुपये, सोना, हीरे, रत्न मिलें तो समझे कि मैलेपर पग टिक गया। पर उसको हमें लेना नहीं है। हम तो केवल परमात्मतत्त्वको ही चाहते हैं। इसके सिवाय हमें कुछ भी लेना नहीं है—यह अनन्य भक्ति है।

मनुष्य-शरीर प्राप्त करके अगर धन प्राप्त कर लिया, भोग प्राप्त कर लिये, मान-बड़ाई प्राप्त कर ली, तो मनुष्य-शरीर निष्फल है। धन आदिमें ही अटक गये, यहाँकी चीजोंमें ही अटक गये तो क्या मनुष्य हुए? मनुष्यपना क्या हुआ? क्योंकि मनुष्य-शरीर बहुत दुर्लभ है—'**दुर्लभो मानुषो देहः**'। सद्ग्रन्थोंमें यह मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ

स्त्रीको 'माँ' कहकर भिक्षा लाओगे ?' उसने कहा—'हाँ' हम भी भिक्षा ले आयेंगे।' उसने वैसा ही किया और घर जाकर अपनी स्त्रीसे कहा—'माई! भिक्षा दो।' यह कैसे होता है? ऐसे होता है। विचार हो गया, तो हो ही गया। अब इधर-उधर हो ही नहीं सकता। मरनेवाला क्या मुहूर्त पूछकर मरता है? ऐसे ही एक विचार कर ले कि दुनिया भला कहे या बुरा, सुख पाये या दुःख, धन मिले या चला जाय; चाहे कुछ हो जाय, हमें तो उस तत्त्वको प्राप्त करना ही है। इसीको अनन्यता कहते हैं।

का माँगूँ कुछ थिर न रहाई, देखत नैन चल्या जग जाई॥
इक लख पूत सवा लख नाती, ता रावन घरि न दिया न बाती॥
लंका सी कोट समंद सी खाई, ता रावनि की खबरि न पाई॥
आवत संगि न जात संगाती, कहा भयौ दरि बाँधे हाथी॥
कहै कबीर अंतकी बारी, हाथ झाड़ि जैसे चले जुवारी॥

प्रवचन—१४

साधक अगर 'ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये'—इन दो बातोंको छोड़ दे और भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार कार्य करता रहे तो उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय! जिसको मुक्ति कहते हैं, कल्याण कहते हैं, वह हो जाय! रामायणमें आता है—

कबहुँक करि करुना नर देही।
देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (७।४३।३)

बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभु अपनी तरफसे कृपा करके जीवको मनुष्य-शरीर देते हैं। कृपाका तात्पर्य यह हुआ कि मनुष्य अपना कल्याण कर ले। मनुष्यका कल्याण हो जाय—इस भावसे भगवान् मनुष्य-शरीर देते हैं। अतः भगवान्‌की तरफसे तो इसके उद्धारका संकल्प हो गया। परन्तु मनुष्य 'ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये'—इस बातको पकड़ लेता है और इसीसे बन्धनमें पड़ जाता है; और इसीको कामना कहते हैं।

गीताने जो कामना-त्यागकी बात कही है, उसका तात्पर्य है कि 'ऐसा हो जाय और ऐसा न हो जाय'—ये दोनों छोड़ दें। इस तरह कामनाका त्याग करनेसे मनुष्यका संसारके साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा और भगवान्‌की कृपासे, भगवान्‌के संकल्पसे इसका उद्धार हो ही जायगा—यह निश्चित बात है।

प्रभु स्वाभाविक बिना कारण कृपा करते हैं, किसी कारणसे नहीं—***'बिनु हेतु सनेही'।*** अतः भगवान्‌का यह संकल्प है कि मनुष्य अपना उद्धार कर ले। भगवान्‌का संकल्प सत्य होता है, नित्य होता है और स्वतःसिद्ध होता है। इसलिये मनुष्यको अपने कल्याणके लिये कुछ भी करना नहीं पड़ता। बस, केवल एक बात है कि मनुष्य अपनी आड़ नहीं लगाये अर्थात् 'ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये'—इसको मिटा दे। फिर इसका कल्याण स्वतः हो जायगा।

ऐसा हो जाय और ऐसा न हो जाय—इससे होता कुछ नहीं। कारण कि 'ऐसा हो जाय'—ऐसा चाहनेसे क्या ऐसा हो जाता है? और 'ऐसा न हो जाय'—ऐसा चाहनेसे क्या ऐसा नहीं होता? एक-एक भाई-बहन इसपर विचार करके देखें कि जैसा हम चाहें, वैसा हो जाय और जो नहीं चाहें वह नहीं हो—यह बात होती नहीं। अभीतक किसीके भी मनकी बात पूरी नहीं हुई तो अब कैसे हो जायगी? आपलोग अपना-अपना जीवन देख लें कि हमने जैसा चाहा, वैसा हुआ है क्या? जो नहीं चाहा, वह नहीं हुआ है क्या? आपकी उम्रभरका है ऐसा अनुभव? अतः हमारे चाहनेसे क्या होता है? प्रभुकी प्राप्तिमें बाधा लगनेके सिवाय कुछ नहीं होता। जिसको तत्त्व-ज्ञान, जीवन्मुक्ति, भगवत्प्रेम, भगवत्प्राप्ति, कल्याण, उद्धार कहते हैं, केवल उसमें बाधा लगती है और कुछ नहीं होता।

कहते हैं 'बात तो ठीक है पर मनमें ऐसी कामना हो जाती है, क्या करें?' इसमें एक बात बताते हैं। जो हो जाता है, वह दोषी नहीं होता, प्रत्युत जो करते हैं वह दोषी होता है। जैसे, वर्षा हो जाय, न हो जाय

तो क्या हमें उलाहना मिलता है? क्या इसमें हमारी कोई जिम्मेवारी होती है? जो स्वतः होता है, उसकी हमारेपर कोई जिम्मेवारी नहीं होती, उसका हमें कोई पाप-पुण्य नहीं लगता। अतः मनमें 'ऐसा हो और ऐसा न हो'—ऐसा आ भी जाय तो उसकी उपेक्षा कर दें कि 'नहीं, हमें यह कामना नहीं करनी है, हमें यह बात बिलकुल ही नहीं रखनी है।' इसपर अगर आप दृढ़तासे टिक जायँ तो यह कामना मिट जायगी।

हमारे मनमें तो यही बात रहनी चाहिये कि 'जैसा भगवान् चाहें वैसा होना चाहिये और जैसा भगवान् नहीं चाहें, वैसा नहीं होना चाहिये'—

मेरी चाही मत करो, मैं मूरख अज्ञान।
तेरी चाही में प्रभो, है मेरा कल्यान॥

अगर चाह हो भी जाय तो प्रभुसे कह दें कि 'हे नाथ! मेरी चाही मत करना'। नारदजीने चाहा कि मेरा विवाह हो जाय, तो क्या विवाह हो गया? उन्होंने भगवान्से भी माँग लिया, तो भगवान्ने कहा कि 'जैसा तुम्हारा परम हित होगा, वैसा करूँगा।'

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥

(मानस १। १३२)

नारदजीने अपने-आपको भगवान्को दे रखा था; अतः उनके माँगनेपर भी भगवान्ने नहीं दिया। इसलिये माँगकर अपनी इज्जत क्यों खोयें; क्योंकि प्रभु तो अपनी मरजीसे करेंगे! जब वे अच्छे-से-अच्छे भक्तका कहना भी नहीं करते, तब वे हमारा कहना कैसे करेंगे? तो फिर कहना ही क्यों? कुछ भी नहीं चाहेंगे तो हमारी इज्जत रह जायगी।

जब हनुमान्जी सीताजीका पता लगाकर उनका सन्देश लेकर आये, तब भगवान्ने उनसे कहा कि 'मैं तुम्हें क्या दूँ? देनेके लिये मेरे पास कुछ है ही नहीं; अतः मैं तुम्हारा ऋणी हूँ'। इसलिये जो भगवान्से कुछ नहीं चाहता, भगवान् उसके ऋणी हो जाते हैं। जैसे, आपको यह मालूम हो जाय कि ये महात्मा, ये पण्डितजी कुछ नहीं चाहते तो

आपके मनमें भाव होगा कि इनको कुछ दे दूँ। ये हमसे कुछ ले लें—ऐसी आपकी स्वाभाविक एक रुचि होती है। ऐसे ही जो कुछ नहीं चाहता, उसका कल्याण हो जाय—ऐसी प्रभुके मनमें आती है।

एक सन्तने कहा था—यह हमारे काममें ली हुई, अनुभव की हुई बात है कि मनसे पूछे—तेरेको क्या चाहिये? मनसे उत्तर दे—कुछ नहीं। बोल, क्या चाहिये? कुछ नहीं—ऐसे बार-बार मनसे कहो तो चाहना मिट जायगी। हमें कुछ चाहिये ही नहीं; क्योंकि सबके अन्न-जलकी व्यवस्था अपने-आप होती है। हम जी रहे हैं तो जीनेकी सामग्री अपने-आप आयेगी। फिर चाहना क्यों करें? सुख मिले और दु:ख न मिले—ऐसा सब चाहते हैं पर आजतक एक भी प्राणी ऐसा नहीं हुआ, जिसको दु:ख न मिला हो और सुख-ही-सुख मिला हो। इसलिये प्रभुकी मरजीमें अपनी मरजी मिला दें। प्रभु जो कर रहे हैं, उसमें हमारा हित भरा है। **ऐसा होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यही बंधन है। यह न रहे तो फिर प्रभुका भजन ही होगा।**

प्रभुकी मरजीमें अपनी मरजी मिला देना, अपनी कोई अलग चाह न रखना ही पूजा है। अगर अपने मनमें 'यह हो और यह न हो' ऐसा रहेगा तो पूजामें बाधा होगी। एक सन्त मिले थे। उन्होंने कहा कि 'हमारी तो सदा मनचाही होती है'। दुनियामें ऐसा कोई नहीं है, जिसकी सदा मनचाही होती हो। उनसे पूछा कि 'महाराज! आपकी सदा मनचाही कैसे होती है?' वे बोले कि 'हम अपनी कोई चाहना रखते ही नहीं, हमने अपनी चाहना भगवान्‌की चाहनामें मिला दी है। अब वे जो कुछ करें, उसमें हमारी भी यही चाहना है अर्थात् ऐसा हो गया तो हम भी ऐसा ही चाहते हैं; अत: जो होता है, वह हमारी चाहनाके अनुसार ही होता है।'

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥

(मानस १। १२८)

इसलिये साधक अपनी कोई चाहना न रखे।

ऊधौ! मन माने की बात।
दाख छोहारा छाड़ि अमृतफल, विषकीरा विष खात॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अंगार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठ में बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतंग हित जान आपनो दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जासों, ताको सोइ सुहात॥
कहा कहौं छबि आजुकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष-बान लेउ हाथ॥
मुरली मुकुट दुरायकै नाथ भये रघुनाथ।
लखि अनन्यता भक्तिकी जन को कियो सनाथ॥

प्रवचन—१५ (अ)

हमलोगोंने यह समझ रखा है कि जैसे हमलोगोंमें स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधामें सम्बन्ध है; पर ऐसी बात नहीं है। श्रीकृष्ण और श्रीराधाका जो प्रेम है, वह एक विलक्षण तत्त्व है। इसमें भी श्रीराधा प्रेम-तत्त्व है। जिस तरह लोभी मनुष्यके सामने एक तो होता है धन और एक होता है धनकी तरफ खिंचाव; धन प्रिय लगता है, धनमें खिंचाव होता है तो इसको लोभ कहते हैं; इसी तरह एक तो हैं भगवान् और एक है भगवान्‌की तरफ खिंचाव। भगवान्‌में जो खिंचाव है, वह श्रीराधा-तत्त्व है और जिसमें वह खिंचाव होता है, वह श्रीकृष्ण-तत्त्व है। लोभमें तो केवल मनुष्यका ही धनमें खिंचाव होता है, धनका मनुष्यमें खिंचाव नहीं होता। परन्तु प्रेममें भगवान् श्रीकृष्णका श्रीराधाजीमें और श्रीराधाजीका भगवान् श्रीकृष्णमें परस्पर खिंचाव होता है।

सामान्य स्त्री-पुरुषका जो खिंचाव होता है, उसमें और श्रीराधाकृष्णके खिंचावमें बड़ा भारी अन्तर है। स्त्री-पुरुषका खिंचाव तो अपने सुखके लिये

होता है पर **श्रीराधाजी और भगवान् श्रीकृष्णका खिंचाव एक-दूसरेको सुख देनेके लिये होता है, निज सुखके लिये नहीं।** जहाँ निज सुखका भाव होता है, वहाँ राग होता है, कामना होती है, जो फँसानेवाली है।

थोड़े अंशमें यह बात ऐसे समझ सकते हैं कि जैसे माँका बालकमें खिंचाव होता है और बालकका भी माँमें खिंचाव होता है। बालक तो अपने लिये ही माँको चाहता है; क्योंकि वह समझता ही नहीं कि माँका हित किसमें है। परन्तु माँ केवल अपने लिये ही बालकको नहीं चाहती, वह बालकका हित भी चाहती है। परन्तु ऐसा होनेपर भी माँकी ऐसी इच्छा रहती है कि बालक बड़ा हो जायगा तो उसका ब्याह करूँगी, बहू आयेगी, सेवा करेगी, पोता होगा आदि। ऐसी उसके भीतर भविष्यके सुखकी आशा रहती है, चाहे वह इस बातको अभी स्पष्ट जाने या न जाने। परन्तु भगवान् और श्रीजीमें ऐसा भाव नहीं रहता कि भविष्यमें सुख होगा। उनको तो एक-दूसरेको सुखी देखनेमात्रसे सुख होता है। अब इस सुखको कैसे बतायें? संसारमें ऐसा कोई सुख है ही नहीं। संसारमें हमारा जो आकर्षण होता है, वह आकर्षण शुद्ध नहीं है, पवित्र नहीं है; क्योंकि वह अपने सुखके लिये, अपने स्वार्थके लिये होता है।

किसी भूखे आदमीका अन्नमें खिंचाव होता है तो इसमें दो बातें होती हैं—एक तो वह भोजन करेगा तो भोजनके पदार्थोंका नाश करेगा और दूसरे, वह भोजनके अधीन होगा अर्थात् परतन्त्र होगा; कारण कि वह भोजनकी जरूरत मानेगा, और मनुष्य जिसकी जरूरत मानता है, उसकी परतन्त्रता हो ही जाती है। धन चाहते हैं तो धनकी परतन्त्रता, कुटुम्ब चाहते हैं तो कुटुम्बकी परतन्त्रता, शरीर रखना चाहते हैं तो शरीरकी परतन्त्रता हो जाती है। चाहनेवाला स्वयं तुच्छ हो जाता है और जिसको चाहता है, उसको बड़ा मान लेता है। संसारको बड़ा मानकर उसका तो नाश करता है और स्वयं उसका गुलाम बन जाता है और अपना पतन कर लेता है।

भगवान् और श्रीजीके सम्बन्धमें उपर्युक्त दोनों ही बातें नहीं हैं। श्रीजी भगवान्‌की तरफ खिंचती हैं, जिससे भगवान्‌को आनन्द हो और भगवान् श्रीजीकी तरफ खिंचते हैं जिससे श्रीजीको आनन्द हो। एक-दूसरेके प्रति ऐसा भाव होनेसे एक-एकका प्रेम बढ़ता है। जहाँ सुख लेनेकी इच्छा होती है, वहाँ वैसा प्रेम हो ही नहीं सकता। प्रेम उसे कहते हैं, जो बढ़ता ही रहे, जिसमें मिलनेकी उत्कण्ठा बढ़ती ही रहे। श्यामसुन्दर और श्रीजी सदा मिले ही रहते हैं पर ऐसा लगता है कि मानो कभी मिले ही नहीं, आज ही नया मिलन हुआ है—***'अरबरात मिलिबे को निसिदिन, मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिले ना।'***

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं ही दो रूपसे हो गये—अपने आधे अंगसे श्रीजी बन गये और आधे अंगसे श्रीकृष्ण बन गये। इस प्रकार एक भगवान् ही दोनों स्वरूप बने हैं। वे पहले भी एक हैं और पीछे भी एक हैं; केवल **प्रेमका आदान-प्रदान करनेके लिये और दूसरोंको प्रेमका आस्वादन करानेके लिये ही वे दो रूप बने हैं।** दो रूप बनकर वे एक-दूसरेको सुख देनेके लिये एक-एककी तरफ खिंचते हैं। वह सुख कैसा है? **'प्रतिक्षणवर्धमानम्'** प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। सांसारिक सुखका भोग होता है, वह कभी एकरूप नहीं रहता, घटता ही रहता है और घटते-घटते सर्वथा मिट जाता है। संसारका कोई भी सुख हो, कहीं भी हो, जिस किसीमें हमारी रुचि होती है, हम सुख लेते हैं तो पहले सुखकी इच्छा प्रबल होती है, फिर कम हो जाती है। उसका सेवन करते-करते फिर सुखकी इच्छा नहीं रहती। इतना ही नहीं, उस सुखसे ग्लानि हो जाती है। अतः संसारका कोई सुख ऐसा नहीं है, जो निरन्तर सुख दे सके। पर भगवान्‌का सुख ऐसा विलक्षण है कि वह निरन्तर बढ़ता ही रहता है, उसकी कभी तृप्ति नहीं होती।

संसारका सुख प्रतिक्षण नष्ट होता है पर श्रीजी और भगवान् श्रीकृष्णका प्रेम प्रतिक्षण बढ़ता रहता है। वह किस रीतिसे बढ़ता है?

इस रीतिसे बढ़ता है कि मिले रहते हुए भी मानो कभी मिले ही नहीं। जिसको अत्यन्त भूख होती है, उसको अन्न न मिलनेकी एक उत्कण्ठा रहती है कि अन्न मिल जाय। लोभी व्यक्तिको धन न मिले तो धन मिल जाये--ऐसा एक खिंचाव होता है और धन मिलनेपर खिंचाव कम हो जाता है। परन्तु जब श्रीजी और भगवान् श्रीकृष्णका मिलन होता है तो मिलन होनेपर भी खिंचाव बढ़ता रहता है।

सन्तोंकी वाणीमें आया है—***'लाल प्रियामें भई न चिन्हारी'*** लाल और प्रियामें अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीजीमें अभीतक पहचान ही नहीं हुई कि तुम कौन हो! जबतक धन नहीं मिलता, तबतक धनकी पहचान नहीं होती। परन्तु प्रेममें मिलन होनेपर भी पहचान नहीं होती और फिर मिले, फिर मिले—यह उत्कण्ठा रहती है। इस कारण प्रेमका आनन्द ज्ञानके आनन्दसे भी विलक्षण है। सब जगह एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा परिपूर्ण है; ऐसे परमात्मतत्त्वमें स्थित होनेपर एक अखण्ड आनन्द रहता है। वह आनन्द भी किंचिन्मात्र भी घटता नहीं। अनन्त ब्रह्मा उत्पन्न हो-होकर समाप्त हो जायँ तो भी वह ज्यों-का-त्यों रहता है। परन्तु प्रेमका आनन्द प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। सन्तोंने कहा है कि चन्द्रमाकी कला बढ़ती है और बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा आ जाती है पर प्रेमके आनन्दमें कभी पूर्णिमा आती ही नहीं—

प्रेम सदा बढ़िबौ करै, ज्यों ससिकला सुबेष।
पै पूनो यामें नहीं, ताते कबहुँ न सेष॥

ऐसा जो प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम है, भगवान्‌के प्रति खिंचाव है, उसका नाम है—श्रीराधा।

यों तो पहले कृष्णजन्माष्टमी आती है और पीछे राधाष्टमी आती है पर पहले वर्षमें श्रीजी प्रकट होती हैं और दूसरे वर्षमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। इस कारण श्रीजी साढ़े ग्यारह महीने बड़ी हैं और पीछे अवतार लेनेसे भगवान् श्रीकृष्ण छोटे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि पहले भगवान्‌का खिंचाव होता है और पीछे भगवान् प्रकट होते

हैं। भक्तलोग भी पहले नाम-जप करते हैं, कीर्तन करते हैं और पीछे उनकी उत्कण्ठा होती है। ऐसे ही सत्संग करते-करते सत्संगमें एक रस पैदा होता है, सत्संगमें खिंचाव होता है, वह भी बढ़ता रहता है। सुबह इतनी जल्दी और वर्षामें भी लोग सत्संगके लिये इकट्ठे हो जाते हैं, यह क्या है? यह उनका सत्संगमें खिंचाव है। सत्संगकी बातें प्रिय लगती हैं और बार-बार खिंचाव होता है। इससे आगे चलकर प्रेमकी प्राप्ति होती है। इसीलिये पहले श्रीजी प्रकट होती हैं और फिर श्रीभगवान् प्रकट होते हैं। रामायणमें आया है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस १। १८४। ३)

देवताओंसहित ब्रह्माजी आपसमें विचार करते हैं कि भगवान् कहाँ मिलेंगे तो कोई कहते हैं कि भगवान् क्षीरसागरमें मिलेंगे, कोई कहते हैं कि गोलोकमें मिलेंगे और कोई कहते हैं कि वैकुण्ठमें मिलेंगे। पार्वतीजीको रामायण सुनाते हुए भगवान् शंकर कहते हैं कि उस सभामें मैं भी था तो मैंने यह कहा कि भगवान् श्रीहरि किसी एक जगह ही रहते हों, यह बात नहीं है। वे तो सब जगह समानरूपसे मौजूद हैं पर प्रेम होनेपर ही प्रकट होते हैं। फिर कहा—

अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

(मानस १। १८४। ४)

जैसे दियासलाई-घर्षण करते ही अग्नि प्रकट हो जाती है। दियासलाईमें अग्नि तो पहले भी थी। पहले नहीं होती तो प्रकट कैसे होती? अतः दियासलाईमें अग्नि है पर प्रकट नहीं है। ऐसे ही भगवान् सब जगह हैं और परिपूर्ण हैं पर वे प्रकट नहीं हैं। वे प्रकट कब होते हैं? जैसे दियासलाईको रगड़ लगती है तो उससे अग्नि प्रकट हो जाती है, ऐसे ही जब प्रेमरूप रगड़ लगती है अर्थात् भगवान्‌का चिन्तन करते-करते प्रेम हो जाता है तो उससे भगवान् प्रकट हो जाते हैं।

आजु जो हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननीको, सांतनु सुत न कहाऊँ॥
स्यंदन खंडि महारथ खेंडौं, कपिध्वज सहित डुलाऊँ।
इतो न करौं सपथ मोहि हरिकी, छत्रिय गतिहिं न पाऊँ॥
पांडव-दल सनमुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ।
सूरदास रनभूमि बिजय बिनु, जियत न पीठ दिखाऊँ॥

प्रवचन—१५ (ब)

सत्संग करते-करते सत्संगमें, भगवन्नाममें, भगवत्सम्बन्धी बातोंमें, भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें एक खिंचाव होता है, प्रियता होती है। तभी तो वर्षामें भी लोग इतनी जल्दी सत्संग करनेके लिये आ जाते हैं। बिना खिंचाव, प्रियताके कोई आ नहीं सकता। हठसे कोई क्रिया ज्यादा देर नहीं की जा सकती। यह जो इस प्रकार मनका खिंचाव है, यह श्रीजीका अवतार है। श्रीजी प्रकट हो जायँगी तो भगवान् श्रीकृष्ण भी प्रकट हो जायँगे। भगवान्‌में खिंचाव पहले होता है और पीछे भगवान् प्रकट होते हैं।

संसारमें खिंचाव पहले-पहले तो बढ़िया लगता है पर आगे जाकर उसकी पोल निकल जाती है। किसी भोगको भोगते समय पहले तो उसमें खिंचाव होता है पर बादमें कम होते-होते मिट जाता है। जैसे, भोजन करने बैठे तो जबतक भोजन नहीं मिलता, तबतक जैसी प्रियता होती है, भोजन मिलनेपर वैसी प्रियता नहीं रहती। एक-एक ग्रास लेते हैं तो पहले ग्रासमें जो रस आता है, वह रस दूसरे ग्रासमें नहीं आता। ऐसे एक-एक ग्रासमें रस कम होते-होते अन्तमें वह मिट जाता है। एक साधुकी ऐसी ही बात सुनी है। वे शहरके बाहर एकान्तमें रहते थे और भिक्षा माँगकर अपना निर्वाह करते थे। भीतर रागके संस्कार बड़े विलक्षण होते हैं। सब कुछ छोड़कर भजनमें लगनेवालोंमें भी राग रह जाता है। पर ज्यों-ज्यों भगवान्‌में प्रेम बढ़ता है, ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है, त्यों-त्यों वह राग मिटता

जाता है। उन साधुको राग बड़ा तंग करने लगा। उनके मनमें आती कि भिक्षामें रूखी-सूखी रोटी मिलती है, साग-दाल भी पूरी नहीं मिलती और खीर तो मिलती ही नहीं।

खीर खानेकी बार-बार मनमें आने लगी तो वे एक श्रद्धालु हलवाईके यहाँ गये। उसकी उनमें बड़ी श्रद्धा-भक्ति थी कि ये सन्त बड़े त्यागी महात्मा हैं। उससे कहा कि 'भैया! आज हम भिक्षामें केवल खीर लेंगे, आज तो खीर बनाओ। वह बड़ा ही खुश हुआ कि महाराज तो मिठाई देनेपर भी नहीं लेते हैं, दूध भी नहीं लेते हैं, रूखी-सूखी रोटी खाते हैं, आज तो मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ! उसने बड़ी खुशीसे बढ़िया खीर बनायी। नौजा, पिस्ता, इलायची और मीठा डालकर खूब औटाकर सुगन्धित खीर बनायी और महाराजसे कहा कि पाओ। बाबाजीने कहा कि इसे ठण्डी कर दो। उसने ठण्डी करके बाबाजीको खप्परमें दे दी। खप्पर काफी बड़ा था,उसे भर दिया।

पहले जो उत्कण्ठा थी कि खीर मिलेगी, अब मिलनेपर उतना खिंचाव नहीं रहा। खीर खाने लगे तो जो उसमें प्रियता थी, वह खाते-खाते कम होने लगी। फिर भी वे खाते ही रहे। अपने मनमें कहने लगे कि आज खूब खीर पी लो, बहुत दिनोंसे खीर खानेकी मनमें आ रही है। ज्यादा खीर पीनेसे उलटी हो गयी तो उसे खप्परमें ही भर लिया। अब उसी उलटीवाली खीरको फिर पी गये तो ऐसी उलटी हुई कि सारी खीर निकल गयी! अब तो उम्रभरके लिये खीरसे अरुचि हो गयी। खीरका नाम लेते ही रोंगटे खड़े हो जाते।

ऐसा कोई भोग है ही नहीं, जिससे अरुचि न होती हो पर भगवान्‌के प्रेममें कभी रुचि कम होती ही नहीं। जबतक भोगोंमें आसक्ति रहती है, तबतक भगवान्‌में रुचि नहीं होती। भगवान्‌में रुचि हो जाती है तो फिर हो ही जाती है। फिर अरुचि कभी हो ही नहीं सकती। लोग कहते हैं कि भगवान्‌में मन नहीं लगता। संसारकी आसक्ति होनेसे ही भगवान्‌में मन नहीं लगता। जब मन भगवान्‌में लग जायगा तो फिर वहाँसे

कभी अलग नहीं होगा। जैसे मक्खी हरेक चीजपर बैठ जाती है पर अंगारपर नहीं बैठती। अगर अंगारपर बैठ जाय तो फिर वह उठेगी नहीं। फिर तो धुआँ ही उठेगा! इसी तरह यह मन भगवान्‌में लग जाय तो फिर वहाँसे हटेगा नहीं; क्योंकि ऐसा विलक्षण आनन्द और कहीं है ही नहीं। इससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ है ही नहीं—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** (गीता ६। २२)।

मीराबाईने कहा है—

अब छोड़ूँ तो छूटे नाहिं, भई छूँ नागर नट की।
हिरदे में वह बस गयी राणा, लटक मुकुट की।
अब तो लागी गोविन्दासे प्रीत राणा पहले क्यों नहिं अटकी ॥

अब श्यामसुन्दरको छोड़ना मेरे वशकी बात नहीं है। छोड़ना चाहूँ तो भी छूटता नहीं। क्यों नहीं छूटता? कारण कि यह परमात्माका अंश है। परमात्माका सुख मिलनेपर कैसे छूट सकता है! वह तो असली अपना है पर यह संसार अपना नहीं है। मैं बहुत बार कहा करता हूँ कि भाई! यह शरीर आपका नहीं है; और संसार आपका नहीं है क्योंकि ये सदा नहीं रहते, पर आप सदा रहते हैं। आप थोड़ी कृपा करें कि इनको अपना मत मानें और अपने लिये मत मानें। यह जो शरीर और संसारकी सामग्री है, यह केवल दूसरोंकी सेवा करनेके लिये मिली है, दूसरोंको सुख पहुँचानेके लिये मिली है। यह अपनी नहीं है और अपने लिये नहीं है। आप चेतन हैं, यह जड आपके लिये कैसे होगा? आप नित्य रहनेवाले हैं, यह अनित्य आपके साथ कैसे रहेगा? न इनके साथ आप रह सकते हैं और न ये आपके साथ रह सकते हैं। भगवान् आपसे अलग नहीं हो सकते और आप भगवान्‌से अलग नहीं हो सकते। आप भूलसे संसारके सम्मुख और भगवान्‌से विमुख हो जाते हैं पर फिर भी आप भगवान्‌से अलग नहीं हो सकते।

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस ५। ४३। १)

भगवान्‌के सम्मुख होनेपर सब पाप-ताप मिट जाते हैं। अब हम भगवान्‌के सम्मुख होने लगे हैं—इसकी पहचान यह है कि सत्संगमें कुछ रस आने लगा है। अगर भगवान्‌में तल्लीन हो जायँ तो भगवान्‌का अलौकिक प्रेम होगा। इस प्रेमका स्वरूप हैं श्रीराधाजी! श्रीराधाजी प्रेमका अवतार हैं।

एक ऐसी कथा सुनी है कि गोपिकाओंसे एक बार श्रीजी कहती हैं कि 'अरी सखियो! तुम मुझे कन्हैयाके दर्शन करा दो, नन्दनन्दनके दर्शन करा दो।' गोपिकाएँ समझती हैं कि यह बनावटी बात कह रही हैं; क्योंकि यह तो सदा ही श्यामसुन्दरको देखा करती हैं। गोपिकाओंने विचार किया कि अब जब कभी यह श्यामसुन्दरको देखती हुई मिलेंगी तो जाकर पकड़ लेंगी। एक दिनकी बात है कि श्रीजी जल भरने गयीं तो वहाँ श्यामसुन्दरकी तरफ दृष्टि जाते ही जल भरना भूल गयीं और ज्यों-की-त्यों खड़ी रह गयीं। गोपिकाओंने देखा कि आज श्रीजी और श्यामसुन्दर दोनों ही खड़े हैं तो आपसमें कहने लगीं कि आज श्रीजीको पकड़ो। वे श्रीजीके पास जाकर बोलीं कि 'आप तो कहती हैं कि मुझे श्यामसुन्दरके दर्शन करा दो तो आज क्या कर रही हो? किसके दर्शन कर रही हो?' श्रीजी आश्चर्यसे कहने लगीं कि 'सखी! क्या तुम्हारेको श्यामसुन्दरके दर्शन हुए हैं?' अब वे सब गोपिकाएँ हँसने लगीं कि 'तुमने भी तो श्यामसुन्दरको सामने खड़ा देखा था'। श्रीजी बोलीं कि 'मेरी दृष्टि तो उनके कुण्डलकी झलकपर ही लग गयी, इस कारण प्यारेके दर्शन कर ही नहीं सकी! तुम बड़ी भाग्यशालिनी हो, बड़ी श्रेष्ठ हो, जो तुम्हारेको श्यामसुन्दरके दर्शन हुए हैं'।

प्रेममें प्रेमास्पदके जिस अंगमें दृष्टि लग जाती है, वहाँ लग ही जाती है। श्रीजीकी दृष्टि भगवान्‌के कुण्डलमें लग गयी तो उसे वहाँसे हटाकर मुखकी तरफ ले जाना मुश्किल हो गया! अब कौन देखे उधर! कुण्डलकी आभामात्र देखकर वे वहीं मुग्ध हो गयीं। इस कारण श्रीजी कहती हैं कि 'श्यामसुन्दरके दर्शन नहीं हो रहे हैं, उनके दर्शन कराओ!' ऐसी जो भगवद्दर्शनकी उत्कट अभिलाषा है, उसका नाम

है श्रीजी। राधाष्टमीके दिन वे हमलोगोंके सामने प्रकट हुई हैं, जिससे हम भी प्रेमका वह विलक्षण सुख ले सकें।

भगवान्‌की कैसी विलक्षण लीला है कि प्रेम-तत्त्वको समझानेके लिये वे स्वयं श्रीकृष्ण और श्रीजीके रूपसे प्रकट हुए। अगर भगवान् चाहते तो दो मित्ररूपसे, पुरुषरूपसे प्रकट हो जाते अथवा दो स्त्रीरूपसे प्रकट हो जाते पर इससे लोग प्रेम-तत्त्वको समझ नहीं सकते थे। स्त्रीका पुरुषमें और पुरुषका स्त्रीमें जो आकर्षण होता है, उस आकर्षणको शुद्ध बनानेके लिये भगवान् पुरुष—श्रीकृष्ण और स्त्री श्रीराधाके रूपमें प्रकट हुए। हमलोगोंका जो आकर्षण है, वह अशुद्ध है, निकृष्ट है; क्योंकि वह अपने सुखके लिये है और मिटनेवाला है पर यह बात श्रीजी और श्रीकृष्णमें नहीं है।

हमलोगोंकी सत्संगमें, भजन-ध्यानमें जो यत्किंचित् रुचि है, यह उस प्रेमको समझनेका कुछ नमूना है। यह रुचि अधिक बढ़ जायगी तो यह श्रीजीका स्वरूप अर्थात् प्रेमरूप हो जायगी। तब भगवान्‌में ही तल्लीन हो जानेसे प्रेमका विलक्षण आनन्द मिलेगा, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

प्रवचन—१६

मनुष्य-शरीर विवेक-प्रधान है। विवेकका अर्थ होता है—सार और असारको, कर्तव्य और अकर्तव्यको ठीक-ठीक जानना। उस विवेकको काममें लें। मनुष्य विवेकको काममें नहीं लेता, विवेकका विशेष आदर नहीं करता, इससे मनुष्य दुःख पाता है। अगर विवेकको ठीक-ठीक मानकर उसके अनुसार चले, तो वह निहाल हो जाय। इस विवेकको जाग्रत् करनेके लिये सत्-शास्त्र हैं, सत्पुरुष हैं, गुरु हैं, माता-पिता आदि हैं। इनके ऊपर जिम्मेवारी है और ये विवेकको जाग्रत् करते हैं। उस विवेकसे जाननेकी एक खास बात है, उसपर आप ध्यान दें।

साधारण दृष्टिसे रुपये बहुत बड़ी चीज दीखते हैं और हैं भी; क्योंकि रुपयोंसे सब चीजें आती हैं। हम बहुत-सी चीजें रुपयोंसे खरीद लेते हैं और उनसे हमारा काम चलता है। इस वास्ते जीवनके लिये रुपये बड़ी चीज दीखते हैं।

हम जो जी रहे हैं, यह जीना हमें बहुत अच्छा लगता है। दुःखी-से-दुःखी प्राणी भी जल्दी मरना नहीं चाहता। अतः जीनेके लिये अन्न, जल, वस्त्र आदि वस्तुएँ उपयोगी हैं। हमारा जीवन-निर्वाह हो जाय, हमारे प्राण बने रहें—इसके लिये वस्तुओंकी आवश्यकता है। उन वस्तुओंके लिये ही रुपयोंकी आवश्यकता है। रुपयोंके लिये वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, वस्तुओंसे रुपये पैदा हो सकते हैं; परन्तु रुपयोंसे वस्तुएँ बहुत ऊँची हैं, जिनसे हमारा जीवन रहता है। वस्तुओंका उपार्जन होता है। रुपये तो अन्न, वस्त्र आदि वस्तुओंके लेन-देनमें काम आते हैं। अतः रुपयोंसे वस्तुएँ बहुत मूल्यवान् हैं।

वस्तुओंसे भी बहुत मूल्यवान् हैं—प्राणी, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष। ये बहुत कामके हैं। इनके पालनसे ही हमें जीवनोपयोगी वस्तुएँ मिलती हैं। अतः जिनसे जीवन चले, वे जीनेवाले प्राणी श्रेष्ठ हैं। उन प्राणियोंके लिये ही वस्तुएँ हैं। प्राणियोंमें भी मनुष्य श्रेष्ठ है; क्योंकि दूसरे जितने प्राणी हैं, वे अपने पुराने कर्मोंके फल भोगते हैं और फल भोगकर शुद्ध होते हैं। परन्तु मनुष्यमें दो बातें हैं—एक तो पुराने पापों और पुण्योंके फल भोगना और एक आगे अपने उद्धारके लिये काम करना। अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितिका उपभोग करना और उनसे सुखी-दुःखी होना पशुओंमें भी है। सुख पानेका और दुःख मिटानेका उद्योग पशु भी अपनी बुद्धिके अनुसार करते हैं। परन्तु आगे (भविष्यमें) क्या होगा—इसका ठीक तरहसे विचार करनेमें पशु-पक्षी समर्थ नहीं हैं पर मनुष्य समर्थ है। मनुष्य विवेक-प्रधान है, इस वास्ते हमारा हित किस बातमें है और अहित किस बातमें है? हमारा उत्थान किस बातमें है और पतन किस बातमें है? सार क्या है और असार क्या है? नित्य क्या है और अनित्य क्या है? सत्य क्या

है और असत्य क्या है?—इन सब बातोंको जाननेकी योग्यता मनुष्यमें है, पशु-पक्षियोंमें नहीं है। अत: मनुष्योंमें भी विवेक मूल्यवान् है। जो विवेकके अनुसार चलते हैं, वे मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं। विवेक श्रेष्ठ है, इसलिये विवेकका आधार लेकर चलनेवाले भी श्रेष्ठ हैं। विवेक किसलिये है? विवेक इसलिये है कि हितकारक काम करे और अहितकारक काम न करे, सारको ग्रहण करे और असारका त्याग करे, इससे वर्तमानमें और भविष्यमें भी सुख हो, दु:ख न हो—ऐसा काम करे।

जब मनुष्य वस्तुओंका और रुपयोंका आदर ज्यादा करने लग जाते हैं, तब यह विवेक दब जाता है। भगवान्‌ने गीतामें तीन तरहकी बुद्धि बतायी है। जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको ठीक-ठीक जानती है, वह सात्त्विकी होती है (गीता १८। ३०)। जो बुद्धि धर्म और अधर्मको, कर्तव्य और अकर्तव्यको ठीक-ठीक नहीं जानती, वह राजसी होती है (गीता १८। ३१)। जो बुद्धि अधर्मको धर्म मान लेती है और इस प्रकार सब चीजोंको उलटा ही मान लेती है, वह तामसी होती है (गीता १८। ३२)। सात्त्विकी बुद्धि थोड़े मनुष्योंमें ही होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे मनुष्योंमें सात्त्विकी बुद्धि होती ही नहीं। सात्त्विकी बुद्धिको ठीक-ठीक काममें लानेवाले मनुष्य थोड़े हैं। राजसी बुद्धिवाले मनुष्य बहुत हैं। तामसी बुद्धिवाले मनुष्य तो इस कलियुगमें और भी अधिक हैं, जिन्हें उलटा ही दीखता है। उलटा दीखना क्या हुआ? वस्तुओं और प्राणियोंसे भी बढ़कर रुपयोंको मान लिया। वे रुपयोंका ही संग्रह करते हैं। रुपयोंके लिये झूठ, कपट करना पड़े, चोरी करनी पड़े, डाका डालना पड़े, मारपीट करनी पड़े, हत्या करनी पड़े तो वह भी करनेके लिये तैयार हो जाते हैं। रुपये इकट्ठे करनेके लिये गायोंको भी मारने लगते हैं। यह बिलकुल तामसी बुद्धि है। रुपये कमाना और उनकी रक्षा करना तामसी नहीं है, किन्तु सत्-असत्‌का, नित्य-अनित्यका, हित-अहितका विचार छोड़कर झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी आदि करके किसी तरहसे रुपये इकट्ठा करना महान् तामसी बुद्धि है। इससे क्या होगा? रुपयोंका

आदर ज्यादा होगा। इससे आगे चलकर रुपये वस्तुओंके लिये नहीं रहते, अपितु संख्या बढ़ानेके लिये हो जाते हैं। हजार हो जाय तो लाख, लाख हो जाय तो करोड़, इस तरह अरबों-खरबों रुपये बढ़ते ही जायँ। वे यह नहीं सोचते और न सोच ही सकते हैं कि इतने रुपये बढ़ाकर क्या करेंगे? न अच्छे आचरणोंकी तरफ विचार है, न व्यक्तियोंकी तरफ विचार है, न वस्तुओंकी तरफ विचार है; बस केवल रुपये कमाना और इकट्ठे करना।

रुपयोंको खर्च करना और रुपयोंकी संख्या बढ़ाना—ये दो भाग हैं। इसमें खर्चका भाग ही अपने और दूसरोंके काम आता है। जो संग्रहका भाग है, वह अपनेमें तो अभिमान बढ़ाता है और दूसरोंमें दरिद्रता फैलाता है। संग्रहसे प्रमाद होते हैं, लड़ाई-दंगे होते हैं। जितने भी दुर्गुण-दुराचार हैं, वे सब-के-सब रुपयोंकी संख्या बढ़ानेकी दृष्टिसे आते हैं। मनुष्य रुपयोंसे बड़ा माना जाता है; परन्तु लोगोंके हृदयमें उसका आदर नहीं होता। हृदयमें सब उसका निरादर और तिरस्कार करते हैं। रुपयोंके कारण दबकर दूसरे मुँहसे कुछ न बोलें, यह बात अलग है पर हृदयमें भाव अच्छा नहीं होता।

विवेकसे भी ऊँचा है—सत्य-तत्त्व। जो सत्य (परमात्मतत्त्व)-की प्राप्तिमें लग जाते हैं, वे सबसे ऊँचे हो जाते हैं। सत्यकी तरफ चलनेवालेका सब आदर करते हैं। साधारण लोग भी आदर करते हैं, धनी लोग भी आदर करते हैं, ऋषि-मुनि, सन्त-महात्मा भी आदर करते हैं। और तो क्या, सत्यकी तरफ चलनेवालेका भगवान् भी आदर करते हैं। अतः सत्य सबसे बड़ा हुआ। उस सत्यकी प्राप्तिके लिये ही विवेक है, विवेकके लिये ही मनुष्य है, मनुष्योंके लिये ही वस्तुएँ हैं और वस्तुओंके लिये ही रुपये हैं। रुपये अधिक बढ़नेसे फायदा नहीं है, वस्तुओंके अधिक बढ़नेसे फायदा है।

मनुष्य विवेकप्रधान है। उसके लिये यह विशेषरूपसे उचित है कि वह विवेकका आदर करे और विवेकसे श्रेष्ठ जो सत्य-तत्त्व है, उसकी प्राप्तिमें अपना समय लगाये, बुद्धि लगाये और उसीको प्राप्त करे; तो फिर मरनेके बाद भी दुःख नहीं होगा। रुपये, वस्तु, व्यक्ति आदि सब

यहीं रह जायँगे, साथ नहीं चलेंगे पर सत्य पीछे नहीं रहेगा, उसकी प्राप्ति हो जायगी और सदाके लिये शान्ति हो जायगी।

जो सत्य-तत्त्व है, उसीको परमात्मा कहते हैं। जो सर्वथा सत्य है, जिसका कभी विनाश नहीं होता, ऐसे अविनाशी तत्त्वको प्राप्त करना ही मनुष्यका खास ध्येय है, लक्ष्य है। उसको प्राप्त कर लिया तो मनुष्यजन्म सफल हो गया। अगर उसको प्राप्त नहीं किया तो मनुष्यजन्म सफल नहीं हुआ।

खाना-पीना आदि तो कुत्ते, सूअर और गधे भी करते हैं। इसकी कोई विशेष महिमा नहीं है। विशेष महिमा तो परमात्मतत्त्वको प्राप्त करनेमें ही है, जिसमें हमारा और दुनियाका बड़ा भारी हित है। गोस्वामी तुलसीदासजी-जैसे जो अच्छे-अच्छे महात्मा हो गये हैं, उन्होंने अपना भी कल्याण किया और दुनियाका भी कल्याण किया। उनकी वाणीसे आज भी दुनियाका कल्याण होता है। ऐसे उपकार कोई धनी-से-धनी व्यक्ति भी नहीं कर सकता। अतः सत्यकी प्राप्तिका ही उद्देश्य मुख्य रहना चाहिये। रुपये भी सत्यकी तरफ लगें, वस्तुएँ भी सत्यकी तरफ लगें, मनुष्य भी सत्यकी तरफ लगें और विवेक भी सत्यकी तरफ लगे, तब तो उन्नति है। परन्तु परमात्माकी परवाह न करके नाशवान् पदार्थोंकी परवाह की जाय और पदार्थोंसे भी अधिक रुपयोंको पैदा करने और संग्रह करनेको महत्त्व दिया जाय, तब तो पतन-ही-पतन है।

शीघ्र भगवत्प्राप्ति कैसे हो?

प्रवचन—१७

साधकोंके सम्मुख दो बातें विशेषरूपसे आती हैं—एक संसारकी और दूसरी परमात्माकी। संसार नाशवान् है और परमात्मा अविनाशी हैं। संसारके सम्बन्धसे दुःख-ही-दुःख होता है और परमात्माके सम्बन्धसे आनन्द-ही-आनन्द होता है, दुःखका लेश भी नहीं होता।

संसारका आश्रय कभी टिकता ही नहीं है और परमात्माका आश्रय कभी मिटता नहीं है। इन बातोंको हम संत-महापुरुषोंसे सुनते हैं, वेद-पुराणादि शास्त्रोंमें पढ़ते हैं और स्वयं मानते भी हैं, परन्तु ऐसा मानते हुए भी हमारा दुःख दूर क्यों नहीं हो रहा है? हमें परम आनन्दकी प्राप्ति क्यों नहीं हो रही है? हमें भगवान् क्यों नहीं मिल रहे हैं?

अभी जैसे '**हरिः शरणम् , हरिः शरणम्**' कीर्तन हुआ तो भगवान्के चरणोंकी शरण लेना बहुत ही बढ़िया बात है, क्योंकि संसारका आश्रय टिकेगा नहीं, भगवान्का आश्रय ही टिकेगा। ये बातें सुनते हैं, समझते हैं, मानते हैं, फिर भी वह गुत्थी कहाँ उलझी हुई है जो सुलझती नहीं है। इस समस्यापर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करना है।

इस विषयमें अनेक बातें कही जा सकती हैं; परन्तु एक बातपर हमें विशेष ध्यान देना है। वह यह है कि बातें सुनने, पढ़नेसे केवल बौद्धिक या बातूनी ज्ञान होता है। परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें अपनी उत्कट अभिलाषा ही काम आती है, बौद्धिक या बातूनी ज्ञान कुछ भी काम नहीं आता। जिस दिन हमें संसारका सम्बन्ध सुहायेगा नहीं और हम परमात्माके बिना रह सकेंगे नहीं, उसी दिन हमें परमात्माकी प्राप्ति हो जायगी।

संसार असत्य है—ऐसा मानते हुए भी यदि हम सांसारिक सुख-भोगोंको भोगते रहेंगे तो उससे हमें कोई लाभ नहीं होगा। परमात्मा सत्य हैं, उनका नाम सत्य है—ऐसा कहनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। उलझन ज्यों-की-त्यों ही बनी रहेगी। इस उलझनको तभी मिटाया जा सकता है, जब हमारी वर्तमान समस्या यही बन जाय कि संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कैसे हो? परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो?

यह ठीक है कि हम परमात्माकी प्राप्ति चाहते हैं; तत्त्वज्ञान चाहते हैं; मुक्ति चाहते हैं; भगवान्के दर्शन चाहते हैं, भगवत्प्रेम चाहते हैं; परन्तु हमारी इस चाहकी सिद्धिमें एक बहुत बड़ी बाधा हमारी यह मान्यता है कि 'भविष्यमें काफी समयके बाद—भगवत्प्रेम होगा; समय लगेगा; तब कहीं भगवान् दर्शन देंगे; समय पाकर ही तत्त्वज्ञान होगा, परमात्माकी

प्राप्तिमें तो समय लगेगा' इत्यादि। यह जो भविष्यकी आशा है कि फिर होगा, वही परमात्मप्राप्तिमें सबसे बड़ी बाधा है! सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये तो भविष्यकी आशा करना उचित है; क्योंकि सांसारिक पदार्थ सदा सब जगह विद्यमान नहीं हैं, परन्तु सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो सम्पूर्ण देश, काल, वस्तु और व्यक्तिमें विद्यमान हैं, उनकी प्राप्तिमें भविष्यका क्या काम? इस तथ्यकी ओर प्राय: साधकोंका ध्यान ही नहीं जाता। वे यही मान बैठते हैं कि 'इतना साधन करेंगे; इतना नाम-जप करेंगे; ऐसी-ऐसी वृत्तियाँ बनेंगी; इतना अन्त:करण शुद्ध होगा, इतना वैराग्य होगा; भगवान्‌में इतना प्रेम होगा; ऐसी अवस्था होगी, ऐसी योग्यता होगी—तब कहीं परमात्माकी प्राप्ति होगी! इस प्रकारकी अनेक आड़ें (रुकावटें) साधकोंने स्वयं ही लगा रखी हैं यही महान् बाधा है।

जिस दिन साधकके भीतर यह उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है कि परमात्मा अभी ही प्राप्त होने चाहिये अभी, अभी..... अभी! उसी दिन उसे परमात्मप्राप्ति हो सकती है! साधककी योग्यता, अभ्यास आदिके बलपर परमात्माकी प्राप्ति हो जाय—यह सर्वथा असम्भव है। परमात्माकी प्राप्ति केवल उत्कट अभिलाषासे ही हो सकती है।

आप सगुण या निर्गुण, साकार या निराकार—किसी भी तत्त्वको मानते हों, उसके बिना आपसे रहा नहीं जाय उसके बिना चैन न पड़े। भक्तिमती मीराबाईने कहा है—

हेली म्हाँस्यूँ हरि बिन रह्यो न जाय॥

'हे सखी! मुझसे हरिके बिना रहा नहीं जाता।'

निर्गुण-उपासकोंने भी यही कहा है—

दिन नहिं भूख रैन नहिं निद्रा,
छिन-छिन व्याकुल होत हिया, चितवन मोरी तुमसे लागी पिया।

तत्त्वकी प्राप्तिके बिना दिनमें भूख नहीं लगती और रातमें नींद नहीं आती! आप कैसे मिलें! क्या करूँ? हृदयमें क्षण-क्षण व्याकुलता बढ़ रही है। उसे छोड़कर और कुछ सुहाता नहीं।

सन्तोंने भी कहा है—

'नारायण' हरि लगन में ये पाँचों न सुहात।
विषय भोग, निद्रा हँसी, जगत प्रीति, बहु बात॥

ये विषयभोगादि पाँचों चीजें जिस दिन सुहायेंगी नहीं, अपितु कड़वी अर्थात् बुरी लगेंगी, भगवान्‌का वियोग सहा नहीं जायगा। उसी दिन प्रभु मिल जायँगे। इतने प्यारे भगवान्! इतने प्रियतम परमात्मा! जिनके समान कोई प्यारा हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं, ऐसे अपने प्यारे प्रभुके वियोगमें हम दिन बिता रहे हैं! उनके मिले बिना ही हम सुखसे रह रहे हैं!

भगवान् कहते हैं इतनेसे ही काम चलाओ औरकी जरूरत नहीं है, इसलिये चाह पूरी नहीं करते। परन्तु जो भगवान्‌के लिये दुःखी हो जायगा उसका दुःख भगवान्‌से नहीं सहा जायगा। उनके मिले बिना ही हम नींद लेते हैं, आराम करते हैं! बड़ा काला दिन है। इस प्रकार यदि उस प्रभुके बिना क्षण-क्षणमें महान् दुःख होने लगे, प्राण छटपटाने लगें तो भगवान् उसी समय मिल जायँगे। उनके मिलनेमें देरी नहीं है। भक्तका भगवत्प्राप्ति-विषयक दुःख वे सह नहीं सकते। वे कृपाके समुद्र हैं!

फिर भी संसार दुःखी है न! संसार तो दुःखके लिये ही दुःखी हो रहा है। इसे दुःख चाहिये, इसे आफत और चाहिये, धन और चाहिये, बेटा-पोता और चाहिये! भगवान्‌के लिये अगर दुःखी हो जाय तो वे तुरन्त आ जायँगे। इसके लिये भीतर एकमात्र यही लगन पैदा हो जाय कि भगवान्‌के दर्शन कैसे हों? भगवान् कैसे मिलें? क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? ऐसी छटपटाहट तो लगे!

भगवान् प्राणिमात्रका आकर्षण कर रहे हैं—उन्हें खींच रहे हैं, इसीलिये उन्हें कृष्ण कहते हैं। प्राणी जिस अवस्था या परिस्थितिमें रहता है, उसमें भगवान् उसे टिकने नहीं देते—यही उनका खींचना है! यह भगवान्‌का बुलावा है कि मेरे पास आओ! गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (८।१६)

'हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ति अर्थात् जिनको प्राप्त होकर पीछे संसारमें आना पड़े, ऐसे हैं, परन्तु हे कौन्तेय! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता।'

तात्पर्य यह है कि भगवत्प्राप्तिके बिना मनुष्य कहीं भी टिकता नहीं है और बारंबार संसारमें ही घूमता रहता है। भगवान्‌को प्राप्त होनेपर ही मनुष्य टिकता है।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
(गीता १५।६)

'जहाँ जानेपर मनुष्य लौटकर नहीं आता, वह मेरा परमधाम है।'

आप चाहे कितनी भी शक्ति लगा लें, न तो शरीर सदा रहेगा और न कुटुम्बी ही सदा रहेंगे। संसारकी कोई भी वस्तु आपके पास सदा नहीं रहेगी। कारण यही है कि भगवान् निरन्तर आपको खींच रहे हैं। यह उनकी हमपर महान् कृपा है! अतएव यदि आप संसारसे विमुख हो जाओगे तो भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी और आप सदाके लिये सुखी हो जाओगे। यदि संसारमें ही रचे-पचे रहे तो दुःखका अन्त कभी आयेगा ही नहीं और नित्य नया-से-नया, तरह-तरहका दुःख मिलता ही रहेगा।

यह बड़े दुःखकी बात है कि लोग भगवान् और सन्त-महात्माओंसे भी सांसारिक सुख माँगते हैं! दान-पुण्यादि करके भी बदलेमें सांसारिक भोग चाहते हैं। परमात्मतत्त्वको बेचकर बदलेमें महान् दुःखोंके जालरूप संसारको खरीद लेते हैं। यह महान् कलंककी बात है! गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
(मानस ७।४३।१)

मूर्ख लोग अमृतको देकर बदलेमें जहर ले लेते हैं। परमात्मप्राप्तिके लिये मिले हुए इस मनुष्य-शरीरमें नाशवान् सांसारिक पदार्थोंकी माँगका रहना बड़ी लज्जाकी बात है। यदि आप कहें कि इस माँगके बिना हमसे रहा नहीं जाता तो आप आर्त होकर भगवान्से प्रार्थना करें कि हे प्रभो! यह भोग-पदार्थोंकी माँग हमसे मिटती नहीं है, अतएव आप ही इसे मिटा दें। यदि आपकी यह प्रार्थना सच्ची होगी तो भगवान् अवश्य मिटा देंगे। परन्तु आप तो भोग-पदार्थोंमें और उसकी माँगमें रस लेते हैं, उनमें प्रसन्न होते हैं आपकी मिटानेकी इच्छा ही नहीं है फिर माँग मिटे कैसे?

भगवान्के समान कोई भी नहीं है। अर्जुन भगवान्से कहते हैं।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

(गीता ११। ४३)

'हे अनुपम प्रभाववाले प्रभो! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है।'

ऐसे सर्वोपरि भगवान्को प्राप्त करनेके लिये हमारे भीतर उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये। वे कितने मधुर हैं। जब वे हाथोंमें वंशी लेकर त्रिभंगीरूपमें खड़े होते हैं तो कितने प्यारे लगते हैं। उनमें कितना आकर्षण है! कितनी प्रियता है! साधक यदि थोड़ा भी उनका ध्यान करे तो विह्वल हो जाय। उसकी वृत्ति संसारकी तरफ जा ही न सके।

'नारायन' बिना मोल बिकी हों याकी नैक हसन में।
मोहन बसि गयो मेरे मन में।

वे प्रभु यदि थोड़ा-सा भी मुसकरा दें तो आपका सब कुछ समाप्त हो जायगा; शेष कुछ भी नहीं बचेगा। आपको कुछ नहीं करना पड़ेगा। प्रेम, ज्ञान, मुक्ति आदिका उसके सम्मुख कोई मूल्य नहीं। संतोंने कहा है—

चाहै तू योग करि भृकुटी-मध्य ध्यान धरि,
चाहै नाम रूप मिथ्या जानिकै निहारि लै।
निर्गुन, निर्भय, निराकार ज्योति व्याप रही,
ऐसो तत्त्वज्ञान निज मन में तू धारि लै॥

'नारायन' अपने कौ आप ही बखान करि,
मोतें, वह भिन्न नहीं, या विधि पुकारि लै।
जौलौं तोहि नंद कौ कुमार नाहिं दृष्टि पर्‌यो,
तौलौं तू भलै ही बैठि ब्रह्म को विचारि लै॥

उस नन्दकुमारमें इतना आकर्षण है कि एक बार उसके दृष्टिगोचर होनेपर फिर ब्रह्म-विचार करनेकी शक्ति ही नहीं रहती। ऐसे प्रभुके रहते हुए हम नाशवान् एवं दुःख देनेवाले सांसारिक पदार्थोंमें फँसे हुए हैं और फँस ही नहीं रहे हैं उनकी माँग कर रहे हैं। मान-बड़ाई, आराम, निरोगता, सुख-सुविधा, धन-सम्पत्ति आदि अनेक प्रकारके भोग्य पदार्थोंको चाहते हैं—यह बड़ी भारी बाधा है।

यदि भगवत्प्राप्तिकी उत्कट अभिलाषा जाग्रत् न भी हो तो भी आप घबरायें नहीं। भगवान् कहते हैं—'**व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह**' (गीता २। ४१) 'निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है'। अतएव आप यही दृढ़ निश्चय कर लें कि हम तो एक भगवान्‌की तरफ ही चलेंगे। यदि केवल भगवान्‌की तरफ चलनेकी इस अभिलाषाको ही विचारपूर्वक जाग्रत् रखा जाय तो यह अभिलाषा अपने-आप उत्कट हो जायगी। इसका कारण यह है कि प्रभुकी अभिलाषा सही है और संसारकी अभिलाषा गलत है। हम भी (स्वरूपतः) अविनाशी हैं। परमात्मा भी अविनाशी है और परमात्मप्राप्तिकी अभिलाषा भी अविनाशी है। परन्तु संसार और संसारकी अभिलाषा—दोनों ही नाशवान् हैं। परमात्मविषयक अभिलाषा यदि थोड़ी-सी भी जाग्रत् हो जाय तो वह बड़ा भारी काम करती है।

अपने-अपने इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान करते हुए आप इसी समय हे नाथ! हे नाथ! ऐसे पुकारते हुए शान्त…… चुपचाप…… उनके चरणोंमें गिर जायँ। ऐसा मान लें कि हम उनके चरणोंमे ही पड़े हैं और सदा उनके चरणोंमें ही पड़े रहना है। इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं करना है, क्योंकि करनेके आधारपर भगवान्‌को खरीदा नहीं जा

सकता। उनकी प्राप्तिमें अपनेको कभी अयोग्य न माने। जो सर्वथा अयोग्य या अनधिकारी होता है वही भगवच्चरणोंकी शरण होनेका अधिकारी होता है। जिसको संसारमें कोई पद या अधिकार नहीं मिलता, वह परमात्मप्राप्तिका अधिकारी होता है। भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाना बहुत बड़ा भजन है। इसलिये ऐसा मानते हुए उनके चरणोंमें गिर जायँ कि यह हाड़-मांसका अपवित्र शरीर तथा मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ हमारे नहीं हैं और हम उनके नहीं हैं। हमारे केवल प्रभु हैं और हम केवल प्रभुके हैं।

पूरी गीता कहनेके बाद भगवान्‌ने सम्पूर्ण गोपनीयोंसे भी अतिगोपनीय बात यह कही—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता १८। ६६)

'सम्पूर्ण धर्मों (कर्तव्यकर्मोंके आश्रय)-को त्यागकर केवल एक मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'

इसलिये दूसरे सब आश्रय त्यागकर एक प्रभुका ही आश्रय ले लें, क्योंकि यही टिकेगा, दूसरे आश्रय तो कभी टिक ही नहीं सकते।

अंतहि तोहि तजैंगे पामर! तू न तजै अब ही ते।
मन पछितैहैं अवसर बीते॥

राम ...... राम ...... राम

॥ श्रीहरिः ॥

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	पुस्तक
465	साधन-सुधा-सिन्धु (४३ पुस्तकें एक ही जिल्दमें)
1675	सागरके मोती
1598	सत्संगके फूल
1633	एक संतकी वसीयत
400	कल्याण-पथ
401	मानसमें नाम-वन्दना
605	जित देखूँ तित तू
406	भगवत्प्राप्ति सहज है
535	सुन्दर समाजका निर्माण
1485	ज्ञानके दीप जले
1447	मानवमात्रके कल्याणके लिये
1175	प्रश्नोत्तर मणिमाला
1247	मेरे तो गिरधर गोपाल
403	जीवनका कर्तव्य
436	कल्याणकारी प्रवचन
405	नित्ययोगकी प्राप्ति
1093	आदर्श कहानियाँ
407	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता
408	भगवान्‌से अपनापन
861	सत्संग-मुक्ताहार
860	मुक्तिमें सबका अधिकार
409	वास्तविक सुख
1308	प्रेरक कहानियाँ
1408	सब साधनोंका सार
411	साधन और साध्य
412	तात्त्विक प्रवचन
414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार
410	जीवनोपयोगी प्रवचन
822	अमृत-बिन्दु
821	किसान और गाय
417	भगवन्नाम
416	जीवनका सत्य
418	साधकोंके प्रति
419	सत्संगकी विलक्षणता
545	जीवनोपयोगी कल्याण-मार्ग
420	मातृशक्तिका घोर अपमान
421	जिन खोजा तिन पाइयाँ
422	कर्मरहस्य
424	वासुदेवः सर्वम्
425	अच्छे बनो
426	सत्संगका प्रसाद
1733	संत-समागम
1019	सत्यकी खोज
1479	साधनके दो प्रधान सूत्र

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	433	सहज साधना
1360	तू-ही-तू	444	नित्य-स्तुति और प्रार्थना
1434	एक नयी बात	435	आवश्यक शिक्षा
1440	परम पितासे प्रार्थना	1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?
1441	संसारका असर कैसे छूटे?	515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन
1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और......	438	दुर्गतिसे बचो
431	स्वाधीन कैसे बनें?	439	महापापसे बचो
702	यह विकास है या...	440	सच्चा गुरु कौन?
589	भगवान् और उनकी भक्ति	729	सार-संग्रह एवं सत्संगके अमृत-कण
617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	445	हम ईश्वरको क्यों मानें?
434	शरणागति	745	भगवत्तत्त्व
770	अमरताकी ओर	632	सब जग ईश्वररूप है
432	एकै साधे सब सधै	447	मूर्तिपूजा-नाम-जपकी महिमा
427	गृहस्थमें कैसे रहें?		

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित कुछ साधन-भजनकी पुस्तकें

कोड	पुस्तक	कोड	पुस्तक
052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद	140	श्रीरामकृष्णलीला-भजनावली
819	श्रीविष्णुसहस्रनाम—शांकरभाष्य	142	चेतावनी-पद-संग्रह
207	रामस्तवराज—(सटीक)	144	भजनामृत—६७ भजनोंका संग्रह
211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्	1355	सचित्र-स्तुति-संग्रह
224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र	1214	मानस-स्तुति-संग्रह
231	रामरक्षास्तोत्रम्	1344	सचित्र-आरती-संग्रह
1594	सहस्रनामस्तोत्रसंग्रह	1591	आरती-संग्रह—मोटा टाइप
715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	208	सीतारामभजन
054	भजन-संग्रह		